देवांगना

आचार्य चतुरसेन

मूल्य: तीन रुपया

आमुख

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को ब्रह्मचर्य और सदाचार की शिक्षा देकर—बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देव मनुष्यों के प्रयोजन-हित-सुख के लिए—संसार में विचरण करने का आदेश दिया। वह ४४ वर्षों तक, बरसात के तीन मासों को छोड़कर विचरण करते और लोगों को धर्मोपदेश देते रहे। उनका यह विचरण प्रायः सारे उत्तर प्रदेश और सारे बिहार तक ही सीमित था। इससे बाहर वे नहीं गए। परन्तु उनके जीवन काल में ही उनके शिष्य भारत के अनेक भागों में पहुँच गये थे।

ई० पू० २५३ में अशोक ने अपने धर्म-गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्र-तिस्य के नेतृत्त्व में भारत से बाहर बौद्ध धर्मदूतों को भेजा। भारत से बाहर बौद्धधर्म का प्रचार भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस समय प्रायः सारा भारत, काबुल के उस ओर हिन्दुकुश पर्वत-माला तक अशोक के शासन में था।

बुद्ध के जीवन काल में पेशावर और सिन्ध नदी तक, पारसीक शासानुशास दारयोश का राज्य था। तक्षशिला भी उसी के अधीन था। उन दिनों व्यापारियों के सार्थ, पूर्वी और पश्चिमी समुद्र तट तक ही नहीं, तक्षशिला तक जाते-आते रहते थे। उनके द्वारा दारयोश के पश्चिमी पड़ोसी यवनों का नाम बुद्ध के कानों तक पहुँच चुका था।

परन्तु उस काल का मानव संसार बहुत छोटा था। चन्द्रगुप्त के काल में अलेक्जेन्दर ने पञ्जाब तक पहुँच कर मानव संसार की सीमा बढ़ाई। अशोक काल में भारत का ग्रीस के राज्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, जो केवल राजनैतिक और व्यापारिक ही न था— सांस्कृतिक भी था। इसी से अशोक को व्यवस्थित रूप में धर्म-विजय में सफलता मिली और बौद्धधर्म विश्वधर्म का रूप धारण कर गया। इतना ही नहीं—जब बौद्धधर्म का सम्पर्क सभ्य सुसंस्कृत ग्रीकों से हुआ—जहाँ, अफलातून और अरस्तू जैसे दार्शनिक हो चुके थे, तो बौद्धधर्म महायान का रूप धारण कर अति शक्तिशाली बन गया। महायान ने बौद्धधर्म जीवन का एक ऐसा उच्च आदर्श सामने रखा— जिसमें प्राणिमात्र की सेवा के लिए कुछ भी अदेय नहीं माना गया। तथा इस आदर्श ने शताब्दियों तक अफगानिस्तान से जापान और साइबेरिया से जावा तक सहृदय मानव को अपनी ओर आकृष्ट किया। महायान ने ही शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन-असङ्ग-वसुबधु, दिग्नाथ, धर्म कीर्ति जैसे दार्शनिक उत्पन्न किए जिन्होंने क्षणिक विज्ञानवाद का सिद्धान्त स्थिर किया—जिसने गौड़पाद और शङ्कराचार्य के दर्शनों को आगे जन्म दिया। मसीह की चौथी शताब्दी तक महायान पूर्ण रूपेण विकसित हुआ, और उसके बाद अगली तीन शताब्दियों में उसने भारत और भारत के उत्तर दिशा के बौद्ध जगत को आत्मसात कर लिया।

इसी समय से वज्रयान उसमें से अकुरित होने लगा। और आठवीं शताब्दी में चौरासी सिद्धों की परम्परा के प्रादुर्भाव के साथ वज्रयान भारत का प्रमुख धर्म बन गया। बौद्धधर्म का यह अन्तिम रूप था, जो अपने पीछे वाम मार्ग को छोड़कर तेरहवीं शताब्दी में तुर्कों की तलवार से छिन्न-भिन्न हो गया।

भारतीय जीवन को बौद्धधर्म ने एक नया प्राण दिया। बौद्ध

संस्कृति, भारतीय-संस्कृति का एक अभंङ्ग और महत्त्वपूर्ण अङ्ग थी। उसने भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अङ्ग को समृद्ध किया। न्याय-दर्शन और व्याकरण में जैसे चोटी के हिन्दु विद्वान् अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति-उदयनाचार्य थे—उससे कहीं बढ़े-चढ़े बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, वसुबधु, दिग्नाथ, धर्म कीर्ति प्रज्ञाकर गुप्त और ज्ञानश्री थे। पाणिनि-कात्यायन और पतञ्जलि जैसे दिग्गज हिन्दु वैयाकरणों के मुकाबिले में बौद्ध पण्डित-काशिकाकार जयादित्य, न्यासकार जिनेन्द्र बुद्धि तथा पाणिनि-सूत्रों पर भाषा वृत्रि बनाने वाले पुरुषोत्तमदेव कम न थे। कालिदास के समक्ष अश्वघोष को हीन कवि नहीं माना जा सकता। सिद्ध नागार्जुन तो भारती रसायन के एकछत्र आचार्य हैं। आरम्भिक हिन्दी का विकास भी बौद्धों ने किया। उनके अपभ्रंश काव्यों की पूरी छाप उत्तर कालीन सन्तों की निर्गुण धारा पर पड़ी।

इतना ही नहीं, कला का विकास भी बौद्धों ने अद्वितीय किया। साँची, भरहुत, गान्धार, मथुरा, धान्य कन्टक, अजन्ता, अलची-सुभरा की चित्र कला एवं एलौरा-अजन्ता, कोली-भाजा के गुहाप्रासाद बौद्धों की अमर देन है। इस प्रकार साहित्य-संस्कृति-मूर्तिकला-चित्रकला और वास्तुकला के विकास में बौद्ध संस्कृति ने भारत को असाधारण देन दी।

आठवीं शताब्दी में, जब शङ्कर और कुमारिल नए हिन्दू धर्म का शिलारोपण कर रहे थे—नालन्दा औ विक्रम शिला के बौद्ध बिहार परम उत्कर्ष पर थे। नालन्द में तन शन्ति रक्षित धर्मोत्तर जैसे प्रकाण्ड दार्शनिक विराजमान थे। नवीं शताब्दी में वज्रयान का उत्कट रूप प्रकट हुआ। तब सरहपा, शवरफ, लुहण, कण्हपा जैसे महासिद्धों का अखण्ड प्रताप भारत में चारो ओर छाया हुआ था।

खेद की बात है कि भारत के जीवन में नए प्राणों का सञ्चार कर बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया। बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में गहड़वारों की राज्य सत्ता की समाप्ति हुई और उसके साथ ही भारतीय

स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त हुआ। उसी के साथ ही साथ बौद्धधर्म भी भारत से लोप हो गया !!!

प्रागैतिहासिक काल से अफगानिस्तान भारत का अङ्ग रहा है। अफगानिस्तान की जड़ें भारतीय संस्कृति से बँधी हुई हैं। वैदिक काल में अफगानिस्तान में कई 'जन' थे, जिनके नाम अब भी अफगानिस्तान के कबीलों में मिलते हैं। बुद्ध के काल में यह भूभाग दारदोशशासानुशास के आधीन था। तब वह गान्धार देश कहाता था। गान्धार नगर अब भी अफगानिस्तान में है। काबुल के पास की उपत्यका कापीशा विख्यात थी जिसे आज कोह दामन कहते हैं। पाणिनीय काल में वहाँ की अंगुरी शराब कापिशायिनी विख्यात थी—आज भी वहाँ के अंगूरों की समता नहीं है। तक्षशिला पूर्वी गान्धार की राजधानी थी। इस प्रकार गान्धार का राज्य कभी रावलपिण्डी से हिन्दुकुश तक फैला हुआ था। बुद्ध के काल में तक्षशिला विद्या और वाणिज्य का केन्द्र था तथा उत्तरी भारत से उसका घनिष्ट सम्बन्ध था। वहाँ के पोक्कसाति राजा ने बुद्ध का यश सुनकर राज्य छोड़ दिया था, और वह तक्षशिला से बुद्ध के पास मगध में जाकर भिक्षु बना था। अशोक ने एक धर्म सार्जक स्तूप तक्षशिला में भी बनवाया था। मौर्य वंश के बाद तो काश्मीर और गान्धार बौद्धधर्म के केन्द्र बन गए थे। और यह कहा जा सकता है कि ग्रीक और शक जातियों को भारतीय संस्कृति की शिक्षा देने का सबसे बड़ा श्रेय गान्धार के बौद्ध भिक्षुओं को ही है। महावैयाकरण पाणिनी, महादार्शनिक असङ्ग और वसुवधु पठान ही थे। कहना चाहिए कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी तक, १२ सौ वर्ष का गान्धार-अफगानिस्तान बौद्धधर्म संस्कृति और साहित्य का केन्द्र रहा। मध्य एशिया और चीन में बौद्धधर्म के प्रसार का श्रेय भी अफगानिस्तान ही को है। उन दिनों चीन और मध्य एशिया का भाग कपिशा (कोहे दमन) होकर ही था।

इस कारण अफ़गानिस्तान के लोग मध्य एशिया में केवल वाणिज्य व्यापार ही का विस्तार न करते थे, धर्म और संस्कृति की देन भी मध्य एशिया को देते थे।

आज के अफ़ग़ानिस्तान में बुतपरस्ती एक जघन्य काम समझा जाता है। परन्तु कला और संस्कृति का वही-स्वर्णयुग अफ़ग़ानिस्तान का था जब सारा ही अफ़ग़ानिस्तान बुतपरस्त था। बुतपरस्त वास्तव में फ़ारसी शब्द 'बुद्ध-परस्त' (बुद्धपूजक) का विकृत रूप है।

चीनी तुर्किस्तान और सोवियट तुर्किस्तान दोनों ही मिलकर मध्य एशिया कहाते हैं। पश्चिमी मध्य एशिया का बुख़ारा नगर बौद्ध-धर्म का कभी प्रमुख केन्द्र था। मंगोल लोग आज भी बिहार को बुख़ार कहते हैं। तुर्क और तत्कालीन दूसरी जातियाँ भी अपनी भाषा में बिहार को बुखारे ही कहती थीं। इस्लाम के वहाँ आने से प्रथम इस स्थान पर एक बहुत भारी बिहार था, जिसके कारण नगर का यह नाम प्रसिद्ध हो गया। अरबों के शासन के प्रारम्भिक दिनों में इस नगर में छोटी बड़ी अनेक बुद्ध की मूर्तियाँ बिका करती थीं जिन्हें बुत कहा जाता था। किपच्छिक मरुभूमि के निवासी और अन्य देशों के यात्री ये मूर्तियाँ खरीद ले जाते थे। उन दिनों तुसार देश में (तुषार) जो वक्षुनदी के दोनों पार हिन्दुकुश और दरबन्द की पहाड़ियों के बीच में था, बौद्ध बिहार का जाल बिछा था।

दक्षिणी चीन में पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का भारी प्रसार हुआ। इस समय यहाँ २१ अनुवादक काम कर रहे थे। इस समय तीर्थ यात्रा की भाँति भारत आने का चीन में रिवाज़ हो गया था। इस समय अनेक भारतीय बौद्ध विद्वान् चीन में और चीनी विद्वान् भारत में आकर सांस्कृतिक आदान प्रदान कर रहे थे। भारतीय विद्वानों में बुद्धजीव, गुणवर्मा और गुणभद्र परमार्थ प्रमुख थे। सम्राट् ऊ-ती के पुत्र युवान-ची के निजू पुस्तकालय में ४० हज़ार पुस्तकों का संग्रह था।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ ही से चीन में बौद्धधर्म का विरोध आरम्भ हुआ। कांङ् सम्राटों ने सातवीं शताब्दी के अन्त होते-होते बारह हज़ार भिक्षु-भिक्षुणियों को जबर्दस्ती गृहस्थ बना दिया। कांङ् सम्राट के दर्बार में इतिहासकार फू-ही ने बहस करते हुए कहा था कि इस समय एक लाख से अधिक भिक्षु-भिक्षुणियाँ हैं। मेरी सलाह है कि परम् भट्टारक आज्ञा घोषित करें कि इन सभी भिक्षु-भिक्षुणियों का ब्याह करना होगा। इससे एक लाख परिवार तैयार हो जायेंगे, जो दस साल के भीतर दस लाख लड़के लड़कियाँ पैदा करेंगे जो सम्राट के लिए सैनिक बनेंगे। द्वितीय कांङ् सम्राट ने घोषित कर दिया था कि नए बिहारों का बनना, मूर्ति स्थापना, तथा बौद्ध ग्रंथों का लिखना अपराध माना जाय। परन्तु इस समय में भी चीन में ४६०० मठ बिहार, ४० हज़ार मन्दिर, और ढाई लाख से ऊपर बौद्ध भिक्षु थे। नवीं शताब्दी के मध्य में बौद्ध विद्वानों की सब सम्पत्ति जब्त कर ली गई। पीतल की मूर्तियाँ गलाकर सिक्के ढाले गए, लोहे की मूर्तियाँ तोड़कर किसानों के हथियार बनाये गए। सोने चाँदी की मूर्तियाँ तोड़कर, सोना चाँदी राजकोष में जमा कर लिया गया।

सम्राट् की आज्ञा से ४६०० बिहार नष्ट कर दिए गये। दो लाख ६० हजार भिक्षु भिक्षुणियों का गृहस्थ बना दिया गया। ४० हजार मन्दिर ढहा दिए गए। दस लाख एकड़ जमीन जब्त कर ली गई और १॥ लाख दासों को मुक्त कर दिया गया।

इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म पर प्रथम प्रहार हुआ, जो फिर मध्य-एशिया में फैलता हुआ भारत तक आ पहुँचा।

नवीं शताब्दी के मध्य में जब चीन में ये घटनाएँ घटित हो रही थीं, तब भारत में नालन्दा और विक्रम शिला के विश्वविद्यालयों में वज्रयान की धूम मची हुई थी।

दसवीं शताब्दी के उषाकाल ही में कांङ् वंश समाप्त हो गया। और

चीन में अराजकता-लूट मार और अव्यवस्था फैल गई। इस काल में विलास भी चरम सीमा को पहुँच चुका था। कांङ् दर्बार में १० लाख नर्तकियाँ थीं। नृत्य में माधुर्य लाने के लिए उनके पैर बाँधकर छोटे कर दिए जाते थे। चीन में स्त्रियों के पैर बाँधकर उन्हें छोटे करने की रीति इसी काल में चली। इसी समय चीन में छापने के यन्त्र का आविष्कार हुआ, जो सम्भवत: बौद्धों ने ही किया।

तेरहवीं शताब्दी में चीन पर मंगोलों का अधिकार हुआ। मंगोल घुमक्कड़ जाति के भयङ्कर पुरुष थे। केवल चीन ही को नहीं—सारे सभ्य संसार को इस महाप्रलय का सामना करना पड़ा। यह विनाश का अग्रदूत था मंगोल सम्राट् ते-मू-चिन् जिसे चंगेज खाँ भी कहा गया है। प्रशान्त सागर से भूमध्यसागर, साइबेरिया, हिमालय तक के विशाल भूभाग का वह अप्रतिभ विजेता था। उसने अपने काल के सभी घुमक्कड़ कबीलों को एक सूत्र में संगठित किया और वह खानों का खान कहाया। मंगोलों के अनेक सम्राट् हुए। अन्त में तेरहवीं शताब्दी में कुबिले खान ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर उसे राज-धर्म घोषित किया। १४ वीं शताब्दी में ही मंगोल शासन का चीन में अन्त हुआ, परन्तु मंगोलों में बौद्ध धर्म का विस्तार वैसा ही बढ़ता गया।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में जब भारत में महानृप हर्ष का अबाध शासन चल रहा था—उस समय सारा तिब्बत घुमन्तू जीवन व्यतीत कर रहा था। इसी समय तिब्बत में सातवीं शताब्दी का सबसे बड़ा विजेता स्रोङ्-ग्चन्-सान्-यो का जन्म हुआ। उसने सब घुमक्कड़ सर्दारियों को तोड़ कर भोट जाति का एकीकरण किया और उनकी सेना का संगठन कर, उसने आसाम से काश्मीर तक के सारे हिमालय और चीन के तीन प्रदेशों को जीत लिया। उसके राज्य की सीमा हिमालय की तराई से पूर्वी मध्य-एशिया के भीतर शान-सान की पहाड़ियों तक विस्तृत थी। तिब्बत से बाहर आते ही उत्तर दक्षिण—पूर्व पच्छिम जिधर

भी उसने पैर बढ़ाया सर्वत्र बौद्ध सम्पर्क में आना पड़ा। उसके राज्य के दक्षिणी अञ्चल नैपाल और काश्मीर थे, जो भारत के भाग होने के कारण बुद्ध की जन्मभूमि समझे जाते थे। उत्तर और पूर्व में तुर्क और चीन के समृद्ध बौद्ध राज्य थे। इन सबके सम्पर्क में आकर इस नए विजेता के नेतृत्व में तिब्बत ने नए संस्कृतिक रूप को धारण किया। उसने चीन और नैपाल की राजकुमारियों से विवाह किया। लासा को राजधानी बनाई। पड़ोसी देशों की तड़क-भड़क के अनुरूप ही इस असंस्कृत सम्राट् ने अपने नगर को सांस्कृतिक रूप दिया। नेपाल और चीन की रानियों ने बुद्ध-मूर्ति की राजधानी में स्थापना की और उसके चतुर मन्त्री सम्मोटा ने भोट भाषा को लिपिबद्ध कर, लिखा-पढ़ी के द्वारा राज-काज चलाना आरम्भ किया। सम्राट् ने स्वयं लिखने-पढ़ने का अभ्यास किया। फिर बौद्ध ग्रन्थों का, वैद्यक ग्रन्थों का और गणित की पुस्तकों का भोट भाषा में अनुवाद हुआ। और इस प्रकार नए सम्राट की नई जनता शिक्षित होने लगी। और जन-जागरण के साथ-साथ ही भोट जाति में बौद्ध धर्म के संस्कारों का उदय हुआ।

इस सम्राट् के १०० वर्ष बाद नालन्दा के महान् दार्शनिक शान्ति रक्षित तिब्बत में आमन्त्रित किए गए। उन्होंने वहाँ पहिला मठ स्थापित किया और मगधेश्वर महाराज धर्मपाल के बनवाए उदन्तपुरी के महाविहार के अनुरूप विहार की नीव डाली गई। नालन्दा से आचार्य शान्ति रक्षित ने बारह भिक्षुक बुलाए और सात भोट-देशीय कुलपुत्रों को भिक्षु बनाया। इस प्रकार भिक्षु संघ और भिक्षु विहार की तिब्बत में स्थापना हुई। १०० वर्ष की आयु में आचार्य का शरीरपात हुआ और उनका शरीर विहार की पहाड़ी पर एक स्तूप में रखा गया। उन्होंने जीवन के २५ वर्ष तिब्बत में व्यतीत किए और अब तक वे वहाँ बोधिसत्व की भाँति पूजे जाते हैं। इसके बाद आचार्य कमलशील तिब्बत गए। अब तिब्बत का साम्राज्य और विस्तृत हो गया था। वहाँ बहुत से बौद्ध विद्वान पहुँच

चुके थे। स्वयं तिब्बत में भी अनेक आचार्य उत्पन्न हो गए थे। परन्तु नवीं शताब्दी में सम्राट् दटम ने बौद्धों पर अत्याचार आरम्भ कर बौद्ध धर्म को तिब्बत से वहिष्कृत करने की चेष्टा की। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य दीपंकर श्री ज्ञान अतिश तिब्बत गए और उन्होंने नए सिरे से वहाँ बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा की।

वे केवल तेरह वर्ष ही वहाँ जीवित रहे। पर इस बीच उन्होंने बहुत काम किया। इसके बाद ही भारत से बौद्धधर्म का लोप हो गया और भारत का धर्म-स्रोत सूख गया।

इस समय भी भारत में बौद्धधर्म के बड़े केन्द्र थे, जहाँ विश्ववन्द्य आचार्य रहते थे। आज कल जिसे विहार-शरीफ कहते हैं, तब यह उदन्तपुरी कहाता था—तथा यहाँ एक महाविहार था। इस विहार की स्थापना मगधेश्वर महाराज धर्मपाल ने की थी। गङ्गातट जिला भागलपुर में विक्रम शिला विहार बहुत भारी विद्यापीठ था। यह सुलतान गञ्ज-की दोनों टेकरियों पर अवस्थित था। इसकी स्थापना भी पालवंशी महा राज धर्मपाल ने ८ वीं शताब्दी में की थी। उदन्तपुरी के निकट विश्व-विख्यात नालंदा विश्वविद्यालय था गया उस काल में वज्रासन कहाता था दीपंकर श्री ज्ञान का जन्म भागलपुर के निकटवर्ती किसी सामन्त के घर हुआ था। पीछे उन्होंने नालन्द, वज्रासन, विक्रमशिला, राजगृह तथा सुदूर चम्पा में जाकर ज्ञानार्जन किया था। और पीछे उनकी गणना विक्रम शिला के आठ महापण्डितों में की गई थी। उन्होंने अपने अन्तिम दिन तिब्बत को ज्ञान-दान देने में व्यतीत किए।

दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते उत्तर भारत में पालों, गहरवारों, चालुक्यों, चन्देलों और चौहानों के अतिरिक्त सोलंकी और परमारों के राज्य स्थापित हो गए थे। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में भारत की शक्ति ७ दर्बारों में विभाजित थी, जो सब स्वतंत्र थे। पूर्वी भारत में बौद्धों के वज्रयानी सिद्धों का डंका बज रहा था, जिनके केन्द्र

नालन्दा, विक्रमशिला, उदन्तपुरी और वज्रासन थे। पाल राजा सिद्धों के भक्त थे। और उनके केन्द्र उन्हीं के द्वारा पनप रहे थे।

ईसा के पहिली दो तीन शताब्दियों में यवन, शक, आमीर, गुर्जर आदि जातियाँ भारत में घुसीं, उस समय बौद्धों की विजय-वैजयन्ती देश में फहरा रही थी। उन्होंने विदेशियों को समाज में समानता के अधिकार दिए। ब्राह्मणों ने प्रथम तो म्लेच्छ कहकर तिरस्कार किया, परन्तु पीछे जब इन म्लेच्छों में कनिष्क और मिनिन्दर जैसे श्रद्धालुओं को उन्होंने देखा, जिन्होंने मठ और मन्दिरों में सोने के ढेर लगा दिये थे तो उन्होंने भी इन आगन्तुकों का स्वागत करना आरम्भ कर दिया। बौद्धों ने उन्हें जहाँ समानता का अधिकार दिया था, वहाँ उन्हें ब्राह्मणों ने अत्यन्त ऊँचा केवल अपने से एक दर्जे नीचा क्षत्रिय का स्थान दिया। उन्हें क्षत्रीय बना दिया और इन विदेशी नवनिर्मित क्षत्रियों के लिए अपना प्राचीन दार्शनिक धर्म छोड़—नया मोटा धर्म निर्माण कर लिया, जिसे समझने और उसपर आचरण करने में उन विदेशियों को कोई दिक्कत नहीं हुई। इन विदेशियों की टोलियाँ सामन्त राजाओं के रूप में संगठित हो गईं और वे ब्राह्मण उनके पुरोहित, धर्मगुरु और राजनीतिक मन्त्री हो गए। इस प्रकार इस नए हिन्दू-धर्म में प्रथम पुरोहित, उसके बाद ये सामन्त राजा। राजनीति में प्रथम राजा और उसके बाद ब्राह्मण रहे।

ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में जब ये सामन्त और उनके पुरोहित सुगठित हो चुके थे, बौद्धधर्म निस्तेज होने लगा था। सामन्तों के हाथ में देश की सम्पूर्ण सत्ता थी और वे सम्पूर्णतया ब्राह्मणों के आधीन थे।

बौद्ध तो अभी भी दिग्नाथ और धर्मकीर्ति के दर्शनों पर गर्व करते थे। कभी-कभी वे योग-समाधि, तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत-डांकिनी के चमत्कार दिखाने लगते थे। सिद्धों के विचित्र जीवन और लोक भाषा की उनकी अटपटी रहस्यपूर्ण कवितायें, कुछ लोगों को आकर्षित करती थीं। परन्तु सामाजिक

जीवन में उनका कुछ भी हाथ न रह गया था। ब्रह्मचर्य और भिक्षु-जीवन जो बौद्धधर्म की सबसे बड़ी सम्पदा थी अब केवल एक ढोंग रह गया था।

'वज्रयान' जो बौद्धधर्म का सबसे विकृत रूप था, सातवीं शताब्दी के पूर्व ही देश के पूर्वी भागों में फैल गया था। नालन्दा-विक्रमशिला-उदन्तपुरी-वज्रासन इसके अड्डे थे। और इनका प्रसार विहार से आसाम तक था। ये बौद्ध-भिक्षु अब तांत्रिक सिद्ध कहलाते थे और वामाचारी होते थे। ऐसे 'चौरासी सिद्ध' प्रसिद्ध हैं, जिनकी अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों पर सर्व साधारण का विश्वास था। इन सिद्धों में जहाँ बड़े-बड़े आचार्य विद्वान् थे वहाँ थोड़े पढ़े लिखे नीच जाति के डोम-चमार, चाण्डाल, कहार, दर्जी, शूद्र, तथा अन्य ऐसे ही आदमी अधिक होते थे। कुछ तो अनपढ़े होने के कारण, और कुछ इसलिए भी, कि वे जनता पर अपना प्रभाव कायम रख सकें, वे प्रचलित लोक भाषा में गूढ़ सांकेतिक कवितायें करते थे।

इसी वज्रयान का एक अधिक विकृत रूप सहजयान सम्प्रदाय था। इसका धर्म रूप महा सुखद था। इसके प्रवर्तक 'सरहपा' थे। इन्होंने गृहस्थ समाज की स्थापना की थी, जिसमें गुप्त रीति पर मुक्त यौन सम्बन्ध पोषक चक्र-सम्बर आदि देवता, उनके मन्त्र और पूजा अनुष्ठान की प्रतिष्ठा हुई, शक्तियों सहित देवताओं की 'युगनद्ध' मूर्तियाँ अश्लील मुद्राओं में पूजी जाने लगीं। साथ ही मन्त्र-तन्त्र, मिथ्या-विश्वास और ढोंग का भी काफी प्रसार हुआ।

परन्तु जब मुहम्मद-बिन-खिलजी ने इन धर्म केन्द्रों को ध्वंस कर सैकड़ों वर्षों से संचित स्वर्णरत्न की अपार सम्पदा को तारा, कुरुकुल्ला, लेकेश्वर और मंजुश्री के मन्दिरों और मठों से लूट लिया और वहाँ के पुजारियों, भिक्षुओं और सिद्धों को एक सिरे से कत्लेआम किया, तब ये सारी दिव्य शक्तियाँ दुनिया से अन्तर्धान हो गईं। इस कत्लेआम में बौद्धों का ऐसा विनाश हुआ कि उसके बाद बौद्ध धर्म का नाम लेने

वाला भी कोई पुरुष भारत में ढूँढ़े न मिला। मुसलमानों को, भारत से बाहर भी मध्य एशिया में जरफशों और वक्षु की उपत्यकाओं, फर्गाना और वाल्हीक की भूमियों में बौद्धों का मुकाबिला करना पड़ता था। घुटे चेहरे और रंगे कपड़े वाले इन बुतपरस्तों (बुद्धपूजकों) भिक्षुओं से वे प्रथम ही से परिचित थे। इसीसे भारत में जब उनसे मुठ भेड़ हुई तो उन्होंने उन पर दया नहीं दिखाई। उन्होंने खोज-खोजकर बौद्धों के सारे छोटे बड़े विहार नष्ट कर दिये। बौद्धों को अब खड़े होने का स्थान न रह गया। भारतीय बौद्धधर्म संघ के प्रधान शाक्य श्रीभद्र, विक्रमशिला विद्यालय के ध्वस्त होने के बाद भाग कर पूर्वी बंगाल के 'जगत्तला' बिहार में पहुँचे। जब वहाँ भी तुर्कों की तलवार पहुँची, तब नेपाल जाकर वे शरणापन्न हुए। पीछे वे तिब्बत चले गए। शाक्य श्रीभद्र की भाँति न जाने कितने बौद्ध सिद्ध विदेशों को भाग गए। भारत में तो रंगे कपड़े पहनना का वारंट था। अब न उनके खड़े होने का भारत में स्थान था, न उनक कोई संरक्षक था और न जनता का ही उन पर विश्वास रह गया था इसलिए वे तिब्बत, चीन, वर्मा और लंका की ओर भाग गये। उनके इस प्रकार अन्तर्धान होने पर बौद्ध गृहस्थ भी अपने धर्मकृत्य भूल गए। और इस प्रकार नालन्दा, विक्रमशिला और उदन्तपुरी के ध्वंस के कुछ ही पीढ़ी बाद, बुद्ध की जन्म भूमि भारत में बौद्धधर्म का सर्वथा लोप हो गया।

हमारा यह उपन्यास बारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के घटनाओं पर आधारित है। इस समय विक्रमशिला-उदन्तपुरी-वज्रासन और नालन्दा विश्वविद्यालय वज्रयान और सहजयान सम्प्रदायों के केन्द्र स्थली हो रहे थे, तथा उनके प्रभाव से भारतीय हिन्दु-शैव-शाक्त भी वाममार्ग में फँस रहे थे। इस प्रकार धर्म के नाम पर अधर्म और नीति के नाम पर अनीति का ही बोलबाला था। हम इस उपन्यास में उसी काल की पूर्वी भारतीय जीवन की कथा उपस्थित करते हैं।

—:*:—

समारोह

आजकल जहाँ भागलपुर नगर बसा है, वहाँ ईसा की बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला नाम का समृद्ध नगर था। नगर के साथ ही वहाँ विश्व विश्रुत बौद्ध विद्यापीठ था। विक्रमशिला के नगरसेठ धनञ्जय का हिमधौत्त धवल महालय आज विविध रङ्ग की पताकाओं, वन्दनवारों और माङ्गलिक चिह्नों से सजाया जा रहा था। सिंह द्वार का तोरण फूलों से बनाया गया था। बड़े-बड़े हाथियों—घोड़ों—रथों—पालकियों पर और दूसरे वाहनों पर नगर के धनीमानी नर-नारी—सेठ-साहूकार और राजवर्गी पुरुष आज धनञ्जय सेट्ठि के महालय में आ रहे थे। रङ्गीन कुत्तक और जड़ाऊ उष्णीष पहिने विनयधर और दण्डधर—सोने-चाँदी के दण्ड हाथों में लिये दौड़-दौड़कर समागत अतिथियों की अभ्यर्थना कर रहे थे। दास-दासी, द्वारपाल सब अपनी-अपनी व्यवस्था में व्यस्त थे। महालय का वातावरण अतिथियों और उनके वाहनों की धूमधाम और कोलाहल से मुखरित हो रहा था।

नगर सेट्ठि धनञ्जय की आयु साठ को पार कर गई थी। उनका शरीर स्थुल और रङ्ग मोती के समान उज्ज्वल था। उनके स्निग्ध मुख-मण्डल पर सफेद मूछों का गलमुच्छा उनकी गम्भीरता का प्रदर्शन कर रहा था। वह शुभ्र परिधान पहिने, कण्ठ में रत्नहार धारण किए, मस्तक पर बहुमूल्य उष्णीष पहिने; समागत अतिथियों का स्वागत कर रहे थे। उनके होठ अवश्य मुस्कुरा रहे थे पर उनका हृदय रो रहा

था। उनका मुख भरे हुए बादलों के समान गम्भीर और नेत्र आर्द्र थे। आज उनका इकलौता पुत्र प्रवज्ञा लेकर भिक्षु-वृत्ति ग्रहण कर रहा था। यह असाधारण समारोह इसी के उपलक्ष्य में था।

एक हजार भिक्षुसंघ सहित, आचार्य भदन्त वज्रदृष्टि प्राङ्गण में पहुँच चुके थे। भिक्षुगण पीत चीवर पहिने, सिर मुण्डाए, मन्द स्वर से पवित्र काव्यों का उच्चारण कर रहे थे। उनका सम्मिलित कण्ठ स्वर वातावरण में एक अद्भुत कम्पन उत्पन्न कर रहा था। महालय में जो गन्ध द्रव्य जल रहे थे—उसके सुवासित धूम से सुरभित वायु दूर-दूर तक फैल रही थी। विविध वाद्य बज रहे थे। और सम्मानित अतिथि आपस में धीरे-धीरे भाँति-भाँति की जो बातचीत मन्द स्वर से कर रहे थे—उससे सारी ही अट्टालिका मुखरित हो रही थी।

धनञ्जय सेट्ठि ने व्यस्त भाव से इधर-उधर देखा। सामने ही उनका अन्तेवासी विश्वस्त सेवक सुखदास उदास मुँह चुपचाप निश्चेष्ट खड़ा था। सेठ ने कहा—भणे सुखदास, तनिक देख तो, पुत्र के तैयार होने में अब कितना विलम्ब है। भिक्षुगण तो आ ही गए हैं। अब परम भट्टारक महाराजाधिराज और आचार्य के आने में विलम्ब नहीं है।

सुखदास ने मालिक की विषादपूर्ण दृष्टि और कम्पित स्वर को हृदयङ्गम किया और बिना ही उत्तर दिए स्वामी के सम्मुख मस्तक नत कर भीतर चला गया।

सुखदास सेठ का पुराना नौकर था। उसका इस महाजन के घर में परिवार के पुरुष की भाँति ही आदर-मान था। वह अधेड़ आयु का एक ठिगना, मोटा और गौरवर्ण का पुरुष था। चाँद उसकी गञ्जी थी—चेहरा सदा हास्य से भरा रहता था—पर इस समारोह में उसका मुँह भी भरे हुए बादलों के समान हो रहा था। वह सेठ के दुःख और विवशता को जनता था। उसके पुत्र की मनोदशा भी समझता था। जो कार्य हो रहा था—वह उसका कट्टर विरोधी था। परन्तु वह विवश था।

बौद्धों के पाखण्ड, दुराचार और दुष्ट वृत्ति को वह जानता था। इन ढोंगी भिक्षुओं की धर्षणा करने का वह कोई अवसर चूकता नहीं था।

महाश्रेष्टि के पुत्र का नाम दिवोदास था। वह बाईस वर्ष का दर्शनीय युवक था। रङ्ग उसका मोती के समान था। उज्ज्वल हीरक पंक्ति-सी उसकी धवल दन्तावलि थी। उत्फुल्ल कमलदल से उसके नेत्र थे, और सघन घन गर्जन-सा उसका कण्ठ स्वर था। वह नवीन वृषभ की भाँति चलता था। उसका हास्य जैसे फूल बिखेरता था।

सुखदास ने सेट्ठिपुत्र को गोद खिलाया था। उसकी अपनी कोई सन्तान न थी। इस निरीह दम्पति ने सेट्ठिपुत्र में ही अपना वात्सल्य समर्पित किया था। बालक दिवोदास सेवक सुखदास के घर जाकर उसकी गोद में बैठकर उसके हाथ से उसके घर का रूखा-सूखा भोजन करता और उसी की गोद में सुखदास की कहानियाँ सुनते-सुनते सो जाता था। श्रेष्टि और उनकी गृहिणी को इसमें आपत्ति न थी। पुत्र के प्रति सुखदास के प्रेम से वे परिचित थे। इसमें उन्हें सुखोपलब्धि होती थी।

इसी प्रकार दिवोदास युवा हो गया। युवा होने पर भी सुखदास के प्रति उसकी आसक्ति गई नहीं। वह उसे पितृव्य कहकर पुकारता था। सुखदास दिवोदास के विवाह की कितनी ही रङ्गीन कल्पनाएँ करता। पति-पत्नि झूठमूठ को ही दिवोदास के विवाह की किसी काल्पनिक बात को लेकर लड़ पड़ते, और जब दोनों निर्णय के लिए श्रेष्टि दम्पति के पास जाते, श्रेष्टि दम्पति खिलखिलाकर हँस पड़ते थे।

आज इन सब सुखद भावनाओं पर जैसे तुषारपात हो गया। सुखदास की मर्मकथा को कौन जान सकता था। वह अपने हाहाकार करते हुए हृदय की पीड़ा को छिपाकर अन्तःपुर की ओर चला गया।

अन्तःपुर में परिचारिकाएँ दिवोदास को मन्त्रपूत जल से स्नान करा रही थीं। पाँच भिक्षु मन्त्र पाठ कर रहे थे। दिवोदास गम्भीर थे।

उनके स्वर्णगात पर केसर का उबटन किया गया था। सुगन्ध से कक्ष भर रहा था। चेरी और सुहागिनें, मङ्गल गीत गा रही थीं। परिचारिकाओं ने स्नान के बाद दिवोदास को बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहनाए। यह देख गृहपत्नी ने आँख में आँसू भर कर कहा—"पुत्र का यह कुछ ही क्षणों का शृङ्गार है, फिर तो पीत चीवर और भिक्षापात्र !" उसकी आँखों से झरझर अश्रुधार बह चली।

सुखदास ने गृहणी का यह विषादपूर्ण वाक्य सुन लिया। उसने ठण्डी साँस लेकर कहा—"हाय, आज का यह दिन देखने ही को मैं जीवित रहा।" परन्तु शीघ्र ही उसने अपने को सम्हाला। आँख की कोर में आए आँसू पोंछ डाले और आगे बढ़कर कहा—"कुमार, मालिक की आज्ञा है कि महाराजाधिराज और आचार्य के पधारने में अब देर नहीं है, तनिक जल्दी करो।"

कुमार ने स्थिर स्वर में कहा—"पितृव्य, पितृ चरणों में निवेदन कर दो कि यह दास तैयार है।"

सुखदास ने क्षणभर ओस से भींगे हुए शतदल कमल की भाँति सुषमा-सम्पन्न कुमार के मुख की ओर देखा—और 'अच्छा' कहकर वहाँ से चला गया।

इसी समय श्रेष्टि ने आकर दोनों हाथ फैलाकर कहा—"पुत्र, प्यारे पुत्र !"

दिवोदास ने सम्मुख खड़े होकर कहा—"पितृचरणों में अभिवादन करता हूँ।"

"आयुष्मान् हो, यशस्वी हो, पुत्र।"

"अनुगृहीत हुआ।"

"तो पुत्र तुम तैयार हो ?" श्रेष्टि ने कम्पित कण्ठ से कहा।

"हाँ पिता।"

"पुत्र मेरा हृदय बैठा जा रहा है।"

"पिताजी यह तो आनन्द का अवसर है।"

"अरे पुत्र, तेरे बिना मैं रहूँगा कैसे ? यह सारी पृथ्वी तप्त तवे की भाँति अभी से जलती दीख रही है। अब यह सुख वैभव, धन राशि... हाय, मैंने सोचा था...किन्तु महाराज की आज्ञा..." सेठ के होठ काँपे और नेत्रों से आँसू टपक पड़े।

सुखदास ने व्यस्त भाव से आकर कहा—"स्वामिन्, महाराजाधिराज श्री गोविन्दपाल देव तथा भिक्षुश्रेष्ठ आचार्य बन्धुगुप्त पधार रहे हैं।"

धनञ्जय सेठ ने आँखें पोछीं और उनकी अभ्यर्थना को दौड़ चले। उन्होंने महाराज और भिक्षुश्रेष्ठ की अभ्यर्थना की और कक्ष में ले आए।

दिवोदास ने भूपात करके साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

बन्धुगुप्त ने दोनों हाथ ऊँचे कर कहा—"कल्याण, कल्याण !" फिर आगे बढ़कर सेठ से कहा—"श्रेष्ठिराज, महासंघस्थविर वज्रसिद्ध ने आपका मंगल पूछा है, तथा मञ्जुश्री वज्रतारा देवी का यह गन्धमाल्य दिया है।"

धनञ्जय सेठ ने गन्धमाल्य लेकर मस्तक पर रक्खा। और कहा—"भला महासंघस्थविर प्रसन्न तो हैं ?"

"वे सदा सबकी कल्याण-कामना में लगे रहते हैं, वे सर्व त्यागी सिद्ध महापुरुष हैं, उन्हें सुख दुःख नहीं व्यापता।" फिर उन्होंने आगे बढ़कर कुमार के मस्तक पर हाथ धर कहा—"धन्य कुमार ! तुमने वही किया जो तथागत ने किया था, तुम्हारा जीवन धन्य हुआ।" दिवोदास ने मौनभाव से आचार्य के चरणों में मस्तक नवा दिया। सेठ ने कहा—"आचार्य मैंने अपना कुल-दीपक धर्म के लिए दिया।"

"श्रेष्ठिराज, यह संसार का दीपक बनेगा।"

इस समय महाराज ने आगे बढ़ कर सेठ के कन्धे पर हाथ धर के कहा—"क्या तुम बहुत दुखी हो श्रेष्ठि।"

"नहीं देव, किन्तु अब यही इच्छा है कि ये महल अटारी, धन

स्वर्ण, सभी संघ की शरण हो जाय, और यह अधम भी संघ के एक कोने में स्थान प्राप्त करे।"

आचार्य ने प्रसन्न मुद्रा में कहा—"यह बहुत अच्छा विचार है। श्रेष्ठिराज धर्म में आपकी मति बनी रहे। अच्छा अब देर क्यों ? अनुष्ठान का मूहूर्त तो सन्निकट है।"

"सब कुछ तैयार है आचार्य।"

"तो चलिए।"

सब लोग चले। आगे-आगे सुखदास मार्ग बताता हुआ। पीछे राजा, आचार्य और धनञ्जय श्रेष्ठि, उनके पीछे कुमार, कुमार के पीछे स्त्रियाँ मङ्गल गान करती हुई और उनके पीछे मिहमान।

बाहर आने पर कुमार को सुखपाल पर सवार कराया गया। १६ दण्डधर सुखदास की अध्यक्षता में आगे-आगे चले। उनके पीछे स्त्रियाँ मङ्गल गान करती हुई चलीं। उनके पीछे १०० दासियाँ हाथ में पूजन सामग्री लेकर चलीं। उनके पीछे १०० भिक्षु नमो बुद्धाय नमो अर्हन्ताय, का उच्चारण करते चले। पीछे हाथियों, घोड़ों, पालकियों पर समागत भद्रजन और पैदल।

राह में पुर-स्त्रियों ने अपने सिर के केशों से मार्ग की धूल साफ की, नागरिकों ने पथ पर बहुमूल्य दुशाले बिछाये। कुल वधुओं ने झरोखों से खिले फूल बखेरे।

विविध वाद्य बज रहे थे, भिक्षु मंत्रपाठ करते चल रहे थे।

समारोह संघाराम के विशाल द्वार के सन्मुख आ विस्तृत मैदान में रुक गया। सब कोई पंक्तिबद्ध हो, स्तब्ध भाव से खड़े हो गये। सबकी दृष्टि संघाराम के विशाल सिंह द्वार पर थी, जिसके पट बन्द थे। उन्हीं को खोल कर महासंघस्थविर आने वाले थे।

—:०:—

प्रवज्या

संघाराम का सिंह द्वार बड़ा विशाल था। वह गगन चुम्बी सात खण्ड की इमारत थी। समारोह के पहुँचते ही संघाराम की बुर्जियों पर से भेरी नाद होने लगा।

संघाराम दुर्ग की भाँति सुरक्षित था। उसका द्वार बन्द था। सभी की दृष्टि उस बन्द द्वार पर लगी थी। यह द्वार कभी नहीं खुलता था। केवल उसी समय यह खोला जाता था जब कोई राजा, राजकुमार या वैसी ही कोटि का व्यक्ति दीक्षाग्रहण कर भिक्षु बनता था। श्रेष्ठि पुत्र को इसी द्वार से प्रवेश होने का सम्मान दिया गया था।

बाजे बज रहे थे। भिक्षुगण मन्द स्वर में 'नमो अर्हन्ताय, नमो बुद्धाय'—का पाठ कर रहे थे।

भेरीनाद के साथ ही सिंह द्वार खुला। सोलह भिक्षु पवित्र पात्र लेकर वेदी के दोनों ओर आ खड़े हुए। धीरे-धीरे आचार्य वज्रसिद्ध स्वर्णदण्ड हाथ में ले स्थिर दृष्टि सम्मुख किए आगे बढ़े। उनके पीछे पाँच महाभिक्षु पवित्र जल का मार्जन करते तथा गन्धमाल्य लिए पृथ्वी पर दृष्टि गड़ाए चले। उन्हें देखते ही सब कोई पृथ्वीपर घुटने टेक कर झुक गए। आचार्य सीढ़ी उतर शिष्यों सहित कुमार के पास पहुँचे। उन्होंने मङ्गल पाठ करके पवित्र जल कुमार के मस्तक पर छिड़का। तथा स्वस्ति पाठ करके—नमोबुद्धाय—नमोअर्हन्ताय कहा। कुमार सिर झुकाए

उकड़ू उनके चरणों में बैठे थे। आचार्य ने कहा—'उठो वत्स' और वेदी पर चलो।

वेदी पर बुद्ध की विशाल प्रतिमा थी। उसी के नीचे कुशासन पर महासंघस्थविर बैठे। सम्मुख कुमार नतजानु बैठे। दीक्षा का प्रारम्भ हुआ।

आचार्य ने भिक्षुसंघ को सम्बोधित करके कहा—"भन्ते संघ सुने। यह सेट्ठिपुत्र आयुष्मान दिवोदास उपसम्पदापेक्षी है। यदि संघ उचित समझे तो आयुष्मान दिवोदास को उपाचार्य वन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करें।"

इस पर संघ ने मौन सम्मति दी। तब आचार्य ने दुबारा पूछा—"भन्ते संघ सुने। संघ आयुष्मान दिवोदास को आचार्य वन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में उपसम्पन्न करता है। जिसे आयुष्मान को आयुष्मान् दिवोदास की उपसम्पदा आचार्य वन्धुगुप्त के उपाध्यायत्व में स्वीकार है, वह चुप रहें। जिसे स्वीकार नहीं वह बोले।"

उन्होंने दूसरी बार भी, और फिर तीसरी बार भी यह घोषणा प्रज्ञापित की। और संघ के चुप रहने पर घोषित किया कि संघ को स्वीकार है। अब उपाचार्य आयुष्मान को उपसम्पदा दें—प्रवज्ञा दें।

इस पर उपाचार्य बन्धुगुप्त ने दिवोदास से कहा—"आयुष्मान् क्या उपसम्पदा दूँ।"

तब दिवोदास ने उठकर स्वीकृति दी। उसने सब वस्त्रालंकार त्याग दिया और पीत चीवर पहिन, संघ के निकट जा दाहिना कन्धा खोलकर एक कंधे पर उत्तरासंग रख भिक्षु चरणों में बन्दना की—फिर उकड़ू बैठकर हाथ जोड़कर कहा—

"भन्ते संघ से उपसम्पदा पाने की याचना करता हूँ। भन्ते संघ दया करके मेरा उद्धार करें।"

उसने फिर दूसरी बार भी और तीसरी बार भी यही याचना की।

तब संघ की अनुमति से आचार्य वन्धुगुप्त ने तीन शरण गमन से उसे उपसम्पन्न किया।

दिवोदास ने उकड़ू बैठकर—बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धम्मं शरणं गच्छामि कहा।

आचार्य ने पुकार कर कहा—"भिक्षुओ! अब यह भिक्षु रूप में प्रव्रजित और उपसम्पन्न होकर सम्मिलित हो गया है। तुम सब इसका स्वागत करो। इस पर भिक्षु संघ ने जयघोष द्वारा नवीन भिक्षु का स्वागत किया।

इसके बाद आचार्य ने कहा—आयुष्मान, अब तू अपने कल्याण के लिए और जगत का कल्याण करने के लिए गुह्य ज्ञान अर्जन कर। द्वार पंडित की शरण में जा और विहार प्रवेश कर।

-:*:-

द्वार-प्रवेश

महासन्धिक वज्रसिद्ध दिवोदास को प्रव्रज्या और उपसम्पदा देकर विहार में लौट गए। सिंह द्वार बन्द हो गया। नगर सेट्ठि धनञ्जय ने आँखों में आँसू भरकर अवरुद्ध कण्ठ से कहा–"धर्म के लिए, स्वर्ग के लिए कल्याण के लिए मैंने तुझे विसर्जित किया। जा पुत्र, अमरत्व प्राप्त कर।" उन्होंने पुत्र की परिजनों सहित प्रदक्षिणा की और चौधारे आँसू बहाते घर को लौट गए। शेष बन्धु-बान्धव भी चले गए। अकेला सुखदास दिवोदास के पास खड़ा रह गया। दिवोदास ने भरे हुए बादलों के स्वर में कहा—"पितृव्य, अब तुम भी जाओ। मेरा मार्ग तो अब सबसे ही पृथक् है।" परन्तु सुखदास ने कहा—"पुत्र, तेरे बिना मैं कैसे जीऊँगा। स्वामी के पास धन रत्न है, मेरे पास तो वह भी नहीं। तुम जैसे रत्न को गँवाकर भला अब मैं कैसे लौट जाऊँ। मैं भी मूड़ मुड़ाकर भिक्षु बन तेरे साथ ही रहूँगा। बिना मेरी सहायता के तो तुम पानी भी नहीं पी सकते पुत्र।"

दिवोदास ने कहा—"पितृव्य, तब बात और थी। और अब बात दूसरी है। अब तो मैंने त्याग का व्रत लिया है। उन सब बातों से अब क्या प्रयोजन है भला।"

"तो पुत्र, तू इस अकिञ्चन दास को भी त्याग देगा। ऐसा तू निर्मम और कठोर कैसे बन सकता है पुत्र, फिर मेरी वृद्धावस्था को तो देख तनिक।"

सुखदास ने दिवोदास को अङ्क में भर लिया। दिवोदास ने कहा—"पितृव्य, सबसे प्रथम हमें माया-मोह-ममता ही को तो त्यागना है। इसका त्याग नहीं हुआ तो फिर भला सद्धर्म की शरण जाकर क्या किया।"

"किन्तु पुत्र, तुम्हारे इस सद्धर्म में मेरी तनिक भी श्रद्धा नहीं है। इन पाखण्डी भिक्षुओं को मैं भली-भाँति जानता हूँ। यह सब तुम्हारे पिता की सम्पदा को हरण करने के ढोंग है। तुम्हीं इस मार्ग में कण्टक थे, सो उन्होंने इस प्रकार तुम्हें उखाड़ फेंका। परन्तु मैं अपने जीते जी उनकी नहीं चलने दूँगा। तुम्हें भी मैं अपनी आँखों से ओझल नहीं होने दूँगा।"

"पितृव्य, अब यह समय इन बातों पर विचार करने का नहीं है। मैं तो शुद्ध बुद्धि ही से धर्म की शरण आया हूँ। किसी षड़यन्त्र का शिकार मैं नहीं बनूँगा। तुम निश्चिन्त रहो, पितृव्य।"

"तो पुत्र, मैं तुम्हारे साथ हूँ। आज से इस धर्म पाखण्ड का उन्मूलन करना मेरा धर्म हुआ।"

"और मैं भी सद्धर्म की शुद्धि के प्रयत्न में कुछ उठा न रखूँगा। अब तुम जाओ पितृव्य। अभी मुझे द्वार पण्डितों की कठिन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होना है। ऐसा न हो—द्वार पण्डित मुझे अयोग्य घोषित कर दें। और मेरा कुल दूषित हो। जाओ तुम, पिता जी और माता को सान्त्वना देना।"

"जाता हूँ पुत्र, पर शीघ्र ही मिलूँगा।"

सुखदास ने आँखें पोंछी और चल दिया। अब दिवोदास पूर्व द्वार की ओर बढ़े—रत्नाकर शान्ति पूर्वोद्वार का द्वार पण्डित था। यह महावैयाकरण था। द्वार पर पहुँच कर उसने घण्ट घोष किया। घोष सुनकर द्वार पण्डित ने गवाक्ष से झाँक कर कहा—"कौन हो?"

"अकिञ्चन भिक्षु।"

"क्या चाहते हो ?"

"प्रवेश ।"

"तो यह पूर्वी द्वार है। इसका सम्बन्ध शब्दशास्त्र विद्यालय से है। क्या तूने शब्द शास्त्र का अध्ययन किया है ? क्या तू मेरे साथ शास्त्रार्थ करने को उद्यत है ?"

"मैं ज्ञानान्वेषी हूँ, मैं धर्म को शरण आया हूँ। मैं धर्म-तत्त्व सीखना चाहता हूँ।"

"तो भद्र, तू दूसरे द्वार पर जा। इस द्वार से तेरा प्रवेश नहीं होगा। तब दिवोदास दक्षिण द्वार पर गया। यहाँ का द्वार पण्डित प्रज्ञाकर यति था। यह बड़ा भारी न्याय शास्त्री था। घण्टघोष सुनकर उसने पूछा—"आयुष्मान्, क्या तू हेतु-विद्या सीखना चाहता है, क्या तूने अभिधर्म कोष पढ़ा है।"

"नहीं आचार्य, मैं ज्ञानान्वेषी हूँ। मैं धर्म की शरण आया हूँ। मैं धर्म-तत्व सीखना चाहता हूँ।"

"तो भद्र, तू दूसरे द्वार पर जा। इस द्वार से तेरा प्रवेश नहीं होगा।"

दिवोदास ने तब पच्छिम द्वार पर पहुँच कर घण्टघोष किया। पच्छिम द्वार का द्वार पण्डित ज्ञानश्री मित्र था। घण्टघोष सुनकर उसने कहा—"भद्र, क्या तू सांख्य और वेद पढ़ना चाहता है, क्या तूने निरुक्त और षड़ङ्ग पाठ किया ?"

दिवोदास ने कहा—"मैं ज्ञानान्वेषी हूँ, मैं धर्म की शरण आया हूँ, मैं धर्म तत्व सीखना चाहता हूँ।"

"तो भद्र, तू अन्य द्वार पर जा।

तब दिवोदास उत्तर द्वार पर पहुँचा और घण्टघोष किया। वहाँ का द्वार पण्डित नरोपन्न था। उसने पूछा—"क्या चाहता है भद्र!"

"मैं ज्ञानान्वेषी हूँ। मैं धर्म की शरण आया . मैं धर्म तत्व सीखना चाहता हूँ।"

तब द्वार पण्डित ने पूछा—"क्या तू भिक्खु-पातिभिक्ख का पाठ करता है।"

"करता हूँ भन्ते।"

"क्या तू पूर्वकरण और उपोसथ कर्म करता है।"

"करता हूँ भन्ते।"

"तू अन्तरायिक कर्म नहीं करता है।"

"नहीं करता हूँ भन्ते।"

"तो भद्र, तू भीतर आ, और प्रथम केन्द्रीय द्वार पण्डित रत्नवज्र की शरण में जा।" दिवोदास ने बिहार के भीतर प्रवेश किया। तब वह केन्द्रीय द्वार पण्डित रत्नवज्र के सम्मुख आ बद्धाञ्जलि खड़ा हुआ।

रत्नवज्र कठोर और शुष्क प्रकृति के पुरुष थे। वज्रयान-मन्त्र-तन्त्र और सिद्धियों के ज्ञाता प्रसिद्ध थे। रङ्ग उनका काला और आकृति बेडौल थी। उन्होंने भाँति-भाँति के प्रश्न दिवोदास से पूछे। अनेक मन्त्र-तन्त्र जादू-टोनों से उसकी परीक्षा ली, और अन्त में उन्होंने उसे अन्ते-वासी बना बिहार का द्वार खोल दिया। दिवोदास बिहार में प्रवेश पा गए। नियमानुसार उनके निवास आदि की व्यवस्था हो गई। यह एक असाधारण कठिनाई थी, जिस पर उन्होंने विजय पाई।

-:*: —

बिहार

विक्रमशिला महाविहार की स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं शताब्दी में की थी। धर्मपाल बौद्धधर्म का अनुयायी था। वह अपने को परम भट्टारक-परम परमेश्वर महाराजाधिराज कहता था। इस महाविहार में छै महाविद्यालय थे। जिनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् द्वार पण्डित होता था। प्रत्येक महाविद्यालय में १०० आचार्य रहते थे। इस प्रकार विक्रमशिला महाविहार में कुल ६४८ आचार्य थे। जिनमें अनेक विश्व विद्युत पण्डित थे। महाविद्यालय का सभा भवन इतना विशाल था कि उसमें ८ हजार भिक्षु एक साथ बैठ सकते थे।

विक्रमशिला में बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अतिरिक्त वेद-दर्शन तथा अन्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा तो होती ही थी, पर यह बिहार वज्रयान का सबसे बड़ा केन्द्र समझा जाता था। यह युग मन्त्र-तन्त्र जादू-टोने का था। बौद्ध और पौराणिक दोनों ही धर्मों में तान्त्रिक महत्व बहुत था। इस युग में तन्त्रवाद का जो इतना बड़ा महत्व था, उसका श्रेय इसी महाबिहार को था।

इस समय यहाँ के प्रधान कुलपति आचार्य वज्रसिद्ध थे। वज्रयान में प्रमाण माने जाते थे।

विक्रमशिला में शिक्षा पाए हुए विद्यार्थियों में भी अनेक प्रसिद्ध विद्वान् निकले। रत्नवज्र, रत्नकीर्ति, ज्ञानश्री मित्र, रत्नाकर शान्ति और दीपंकर अतिशा यहीं के छात्र थे। अतिशा को तिब्बत में बौद्धधर्म की पुनः

स्थापना के लिए बुलाया गया था, उन्होंने वहाँ वह व्यवस्था और मर्यादा स्थापित की, जो अबतक लामाओं में चली आती है। रत्नकीर्ति अतिशा के गुरु थे। और ज्ञानश्री मित्र अतिशा के उत्तराधिकारी। जब अतिशा तिब्बत चले गए—तब ज्ञानश्री मित्र विक्रमशिला बिहार के प्रधान आचार्य बने थे। परन्तु इस समय उन्होंने आचार्य वज्रसिद्ध को महासंघ स्थविर धर्मनिष्ठाता बना दिया था और स्वयं गुप्तवास करते थे।

जिस समय हमारा उपन्यास आरम्भ होता है। बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध बीत रहा था। इस समय पालवंश का राजा गोविन्द्रपाल पूर्वी बिहार पर शासन कर रहा था। और विक्रमशिला बिहार के कुलपति आचार्य वज्रसिद्ध और नालन्द के कुलपति सरहभद्र के उत्तराधिकारी महामति थे। सरहभद्र ने सहजयान सम्प्रदाय की स्थापना की थी। यह नया यान पूर्णतया वाममार्ग ही था और इसमें युगनद्ध मूर्ति की पूजा होती थी। तथा किसी नीच जाति की सुन्दरी युवती की मुद्रा बनाकर साधना की जाति थी। यह नवीन धर्म समूचे पूर्वी बिहार और बंगाल में तेजी से फैल रहा था। स्थान-स्थान पर गुह्य समाजों की स्थापना हो गई थी। विक्रमशिला विद्या केन्द्र भी इससे अछूता न था। इसके अतिरिक्त काशी नवद्वीप, वल्लभी तथा धारानगरी तक इस सम्प्रदाय के केन्द्र स्थापित हो गए थे। हिन्दु धर्म पर भी इस वाममार्ग का प्रभाव पड़ चुका था।

इस समय वृन्दावन में निम्बाचार्य कृष्ण का रूप प्रदिपादन कर रहे थे—जो निरन्तर गोपियों से घिरा रहता था। तथा भाँति-भाँति की रासलीला का प्रचार बढ़ता जाता था। जिसमें परकीया भावना ही मुख्य रहती थी। निम्बकाचार्य यद्यपि सुदूर दक्षिण के निवासी थे, पर वृन्दावन में उन्होंने अपना अड्डा बनाया था। उत्तर भारत के बहुत से नर-नारी उनके शिष्य बनते जा रहे थे।

शैवधर्म की जड़ तो छठवीं शताब्दी में ही काफी मजबूत हो चुकी

थी। कालिदास, भवभूति, सुबन्धु और बाणभट्ट जैसे महाविद्या-दिग्गज शैव कहे जाते थे। भारत के बाहर कम्बुज आदि देशों में भी इस धर्म का बड़ा प्रचार था। इसके अतिरिक्त दक्षिण पूर्वी एशिया के क्षेत्र, बृहत्तर भारत के अनेक देश इस धर्म से प्रभावित हो चुके थे। जिस प्रकार बौद्धों में वज्रयान सम्प्रदाय पनपा था, उसी प्रकार शैवों में पाशुपत और कापालिक साम्प्रदायों का जोर था। वज्रयान के समान शैवधर्म के ये दोनों धर्म भी सिद्धियों और मन्त्र शक्ति में विश्वास रखते थे। तथा सिद्धि प्राप्ति के लिए अनेक रहस्यमय और गुह्य अनुष्ठान करते थे। सातवीं शताब्दी में जब चीनी यात्री हुएन्सांग भारत में आया था—तब बिलोचिस्तान तक में पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में उस समय माहेश्वर की सौ फुट ऊँची ताम्बे की ठोस मूर्ति थी। इस समय वाराणसी पाशुपत आम्नाय का केन्द्र बन रहा था। वहाँ इस समय सैकड़ों मन्दिर थे जिनमें पाशुपत धर्म की विधि से पूजा होती थी।

वज्रयानी की भाँति पाशुपत सम्प्रदाय वाले भी यह मानते थे कि साधक को जान-बूझ कर भी वे सब काम करने चाहिए, जिन्हें लोग गर्हित समझते हैं। इसमें उनका यह तर्क होता था कि इसके साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊँचा उठ जाता था।

इन्हीं में कापालिक लोगों का एक दल था। जो सिद्धि प्राप्त करने के लिए और भी उग्र और बीभत्स कार्य करता था। ये कापालिक चिता-भस्म अंग पर लगाए, नर-मुण्डमाल गले में पहिने नर-कपाल में मदिरा पानकर मत्त बने निर्द्वन्द्व घूमते, जिसका जो चाहे उठा लेते, जिसे चाहे मार बैठते, इनकी कहीं कोई दाद फर्याद न थी। प्रायः ये घोर दुराचारी होते थे। गृहस्थ इनके नाम से डरते थे। मारण-मोहन उच्चाटन का ये पूरा ढोंग रचते थे। और सदैव कुत्सित रूप में घूमा करते थे। गुह्य सिद्धियों के लिए ये श्मशान में रहते, मुर्दे की पीठपर बैठकर मन्त्र जाप करते, और चिताग्नि पर टिक्कड़ सेक खाते थे।

ऐसा ही उन दिनों शाक्तधर्म था, जिसका पूर्वी बंगाल और आसाम में पूरा जोर था। ये तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों के नाम पर मद्य-मांस सेवन करते, नर-बलि तक देते और आदि शक्ति देवी की उपासना रक्त से करते थे। बलि का इनके विधान में प्राधान्य था। ये शाक्तिक जञ्जाल में लपेट कर वज्रयानियों की भाँति बड़े ही आडम्बर से अपने अनैतिक और कुत्सित कर्मों का प्रतिपादन करते थे।

भागवत धर्म, जिसकी उन्नति गुप्तों के राज्य में हुई थी, अब वैष्णव-धर्म बन चुका था। समुद्र गुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे परम् प्रतापी गुप्त सम्राट् अपने को परम् भागवत कहते थे। वास्तव में उन्ही के समय में बौद्धों का ह्रास होकर वैष्णव और शैव धर्म की प्रतिष्ठा हुई थी। गुप्तयुग के बाद तेरहवीं शताब्दी तक यह प्रतिक्रिया जारी रही। बौद्ध-धर्म का यद्यपि गुप्तकाल ही में ह्रास होना आरम्भ हो चुका था—पर मध्ययुग में वही भारत का मुख्यधर्म था। कन्नौज का प्रतापी महान् हर्ष यद्यपि बौद्ध न था, पर बड़ा भारी बौद्धों का समर्थक था। उसके राज्यकाल में सातवां शताब्दी में जो चीनी पर्यटक भिक्षु ह्वेनसांग भारत में आया था। उसी ने साक्षी दी है कि उसके काल में ही बौद्ध-भिक्षु आलसी प्रमादी और पतित हो चुके थे। और सर्वसाधारण के हृदयों में अब उनकी प्राचीन श्रद्धा न रह गई थी। न उनमें वह लोकहित सम्पादन की भावना रह गई थी। जिसके कारण वह देश-विदेश में प्रसारित हो गया था।

अब तो अलौकिक सिद्धियों और गुह्य उपासनाओं ही का बोल बाला था। पर इस युग में भी शंकर रामानुज और कुमारिल भट्ट ने उन्हें जबर्दस्त टक्कर दी थी। वैष्णवधर्म आरम्भ में यक्षिधर्म था और शुङ्गकाल ही में वैष्णवों के मंदिरों की स्थापना हो चुकी थी पर मध्ययुग में वह सीधी-सादी भक्ति आडम्बर युक्त होने लगी। मन्दिर मूर्तियों को साज, शृङ्गार, नृत्य, गान का प्राधान्य बढ़ गया, और अब मन्दिरों में

स्थापित मूर्तियाँ केवल उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नहीं रह गई थीं। वे अब जाग्रत देवता बन गयी थीं। जिनको स्नान, भोग, साज, शृङ्गार, वस्त्र आदि के द्वारा सत्कृत करने की प्रथा बढ़ती जाती थी, और इस काल में, जैसा कि हम प्रथम कह चुके हैं, गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा, और परिक्रिया विलास का एक दम वाममार्गी स्वरूप वैष्णवधर्म बन चुका था, जिसका नग्न अश्लील वर्णन हम प्रसिद्ध गीत गोविन्द काव्य में पढ़ते हैं।

ऐसा ही यह धर्म का अंधकारमयकाल था। एक ओर ये धर्म केन्द्र अनाचारों के अड्डे बनते जा रहे थे—दूसरी ओर उनमें अथाह सम्पदा भरती जा रही थी। राजा-रईस-सेठ साहूकारों से लेकर सर्व साधारण तक श्रद्धा,भय तथा अन्य कारणों से निरन्तर दान देते रहते थे। इससे मन्दिरों-मठों में सैकड़ों वर्ष की सम्पदा संचित हो गई थी। राज्य नष्ट होते थे—बदलते थे—पर ये धर्म केन्द्र स्थिर थे। इसलिए धर्म केन्द्रों के मठाधीश और पुजारी महाधनवान बन गये थे। प्रजा का धन हड़पने के वे निरन्तर षड़यन्त्र करते रहते थे। बहुधा राज्यों को भी उलट-पलट करने के षड़यन्त्र वे करते थे। अपने सहायक राज्य का प्रसार और विरोधी का पराभव करना इनके बाएँ हाथ का खेल था। इन धर्माचार्यों की यह क्षमता देख बहुत से खटपटी राजा इनके हाथ की कठपुतली बन गये थे। वे इन्हें पूर्ण छूट देते थे, और राज्य के द्वारा लगाम ढीली होने पर ये सर्व साधारण पर मनमाना अत्याचार करते थे। बहुधा वे जबर्दस्ती श्रीमन्त्री के उत्तराधिकारियों को भिक्षु बना लेते जिससे उनकी सारी सम्प्रदा मठों को प्राप्त हो जाय।

बौद्ध बिहारों में एक परम्परा आसमिकों की थी। ये आसमिक एक प्रकार से बौद्ध बिहारों की प्रजा अथवा क्रीत दास ही थे। बिहारों के दान प्राप्त ग्रामों में इन्हें माँफी की जमीन मिलती थी। उसे ये जोतते बोते। और बिहारों को कर देते थे। बिहारों के मठाधीश इनके साथ

क्रीतदासों की भाँति व्यवहार करते थे—उनसे मनमानी बेगार लेते, उनके तरुण पुत्रों और पुत्रियों को भिक्षु-भिक्षुणी और देवदासी बना लेते, जो उनके विलास और लिप्सा का भोग बनते थे। बहुधा ये आसमिक विद्रोह करते थे। इन्हें जबर्दस्ती दबाया जाता था। उस समय इन पर रोमांचकारी अत्याचार किए जाते थे।

जहाँ छोटे-छोटे राजा सामन्त परस्पर लड़ते और सारे देश के वातावरण को अशान्त और अराजक रखते थे—वहाँ देश भर में यह धर्मान्धकार सारे समाज को अविद्या, अन्धविश्वास और अनाचार में धकेलता जा रहा था। ऐसा ही वह युग था। तब ईसा की बारहवीं शताब्दी बीत रही थी। उसी काल की घटना का वर्णन हम इस उपन्यास में कर रहे हैं।

—:*:—

सुखानन्द

सुखदास की स्त्री का नाम सुन्दरी था। वह यों तो भली स्त्री थी—पर मिजाज की जरा चिड़चिड़ी थी। सुखदास घर-बार से बेपरवाह था। उसे अपने वेतन की भी चिन्ता न थी। वह नौकरी नहीं बजाता था, सेठ के घर को अपना घर समझता था।

जिस दिन कुमार दिवोदास की दीक्षा हुई, उससे एक दिन प्रथम सुखदास और उनकी पत्नी में खूब वाग्युद्ध हुआ था। वाग्युद्ध का मूल कारण यह था कि सुखदास ने तेईस वर्ष पूर्व, सुन्दरी से उसके लिए एक जोड़ा नूपुर बनवा देने का वादा किया था। वे नूपुर उसने अभी तक बनवा कर नहीं दिए थे। तेईस वर्षों के इस अन्तर ने सुन्दरी को अधेड़ बना दिया था, प्रायः प्रतिदिन ही वह सुखदास से नूपुर का तकाजा करती थी और प्रतिदिन सुखदास उसे कल पर टाल देता था। इसी प्रकार कल करते-करते तेईस वर्ष बीत चुके थे। कल रात इस मामले ने बहुत गहरा रङ्ग पकड़ा था। सुन्दरी को इसके लिये आँसू गिराने पड़े थे। और सुखदास ने प्रणबद्ध होकर वचन दिया था कि यदि कल नूपुर नहीं बनवा दूँगा तो घरबार छोड़कर भिक्षु हो जाऊँगा। सुन्दरी को नूपुर पहनने की बड़ी अभिलाषा थी, वार्धक्य आने से भी वह कम नहीं हुई थी। उसने कहा—भिक्षु हो जाओगे तो सन्तोष कर लूँगी। पर यदि कल नूपुर न लाए तो देखना मैं कुँए तालाब में डूब मरूँगी। सुखदास "अच्छा, अच्छा, समझ गया।" कहकर घर से बाहर चला गया था।

आज सुखदास को एक साहस करना पड़ा। देवदास का भिक्षु होना वह सहन न कर सका। बौद्धों के पाखण्ड से वह खूब परिचित था। उसने चुपचाप दिवोदास की सहायता करने के लिए भिक्षु वेश धारण कर लिया। दाढ़ी मूछों का सफाया कर लिया और पीत कफनी पहन ली। उसने चुचपाप संघाराम में दिवोदास के पास रहने की ठान ली थी।

सुन्दरी आज बहुत क्रोध में थी। उसने निश्चय किया था, आज जैसे भी हो वह नूपुर बिना मँगाये न रहेगी। जब देखो झूठा बहाना। बहाने ही बहाने में खाने-पहनने के दिन बीत गए। आज वह नहीं या मैं नहीं।

वह बड़बड़ाती हुई बाहरी कक्ष में आई। उसका इरादा कल के युद्ध को फिर से जारी करके पति को परास्त कर डालने का था। कक्ष में देखा—वहाँ सुखदास के स्थान पर कोई भिक्षु पीत कफनी पहिने बैठा है। सुखदास की भाँति सुन्दरी भी भिक्षुओं को एक आँख नहीं देख सकती थी। उसने भिक्षु को देखते ही आग बबूला होकर कहा—

"यह कौन मूड़ीकाटा बैठा है, अरे, तू कौन है?"

'यह मैं हूँ प्रेम प्यारी जी, तुम्हारा दास सुखदास। पर अब तुम इसे भिक्षु सुखानन्द कहना।"

सुन्दरी का कलेजा धक से रह गया। उसने घबड़ा कर कहा—

"क्या भांग खा गए हो? मूछों का एकदम सफाया कर दिया?"

"तुम्हीं तो इन्हें कोसा करती थीं? कहो अब यह मुँह कैसा लगता है।"

"आग लगे इस मुँह में, यह भिक्षु का बाना क्यों पहना है?"

"तुम्हीं ने तो कहा था कि साधु होकर घर से निकल जाओ, मैं संतोष कर लूँगी। लो अब जाता हूँ।"

सुखदास ने जाने का उपक्रम किया तो सुन्दरी ने बढ़कर उसके पीत-

वस्त्र का पल्ला पकड़ लिया। रोते-रोते कहा—"हाय-हाय, यह क्या करते हो, अरे ठहरो, कहाँ जाते हो?"

"जाता हूँ।"

"अरे मुझे भरी जवानी में छोड़े जाते हो निर्दयी।"

"अरे, वाहरे भरी जवानी। कबतक जवान रहोगी।"

"जाने दो मैं नूपूर नहीं मागूँगी।"

"अब तुम नूपुर लेकर ही रहना। मुझसे तुम्हारा क्या वास्ता! मैं चला।"

"अरे लोगों, देखो। मैं लुट गई। नहीं, मैं नहीं जाने दूँगी।" वह रोती हुई सुखदास से लिपट गई।

"तब क्यों कहा था?"

"वह तो झूठ-मूठ कहा था।"

"तो प्रेमप्यारी जी, मैं भी झूठ-मूठ का भिक्षु बना हूँ, कोई सचमुच थोड़े ही!"

"अरे! यह क्या बात है।"

"किसी से कहना नहीं, गुप चुप की बात है।"

"अरे, तो तुम झूठ मूठ क्यों मूड़ मुड़ा बैठे?"

"तब क्या करता, मालिक की अकिल तो पिलपिली हो गई है। जवान बेटे को बैठे बिठाए मूड़ मुड़ाकर घर से निकाल दिया। भिक्षु बड़े पाजी होते हैं। और वह सबका गुरु घंटाल पूरा भेड़िया है। उसके दाँत सेठ की दौलत पर हैं। भैया पर न जाने कैसी बीते मेरा उनके साथ रहना बहुत जरूरी है, समझीं प्रेम प्यारी जी!"

"पर मेरी क्या गत होगी यह कभी सोचा, नूपुर नहीं थे तो क्या तुम तो थे। इसी से सन्तोष था, अब तो तुम भी दूर हो जाओगे। आज झूठ-मूठ के साधु बने हो, कल सचमुच के बनने में क्या देर लगेगी।"

"नहीं प्रेम प्यारीजी, कहीं ऐसा भी हो सकता है? तुम्हें छोड़कर

भला सुखदास की गत कहाँ है। पर भैया की सेवा करना भी मेरा धर्म है। लो अब मैं जाता हूँ।"

"तो फिर मुझे क्या कहते हो?"

"बस इस झमेले से बेबाक हुआ कि मुझे नूपुर बनवाने हैं।"

"भाड़ में जाय नूपुर! मेरे लिये तुम बने रहो।"

"मैं तो पक्का बना बनाया हूँ, चिन्ता मत करो।"

"फिर कब आओगे?"

"रोज ही आएँगे, आने में क्या है। सभी भिक्षु भिक्षा के लिये आते हैं। हम यहीं मिला करेंगे। अच्छा साध्वी तेरा कल्याण हो, यह भिक्षु सुखानन्द चला।"

"हाय-हाय, निर्मोही न बनो!"

"सब झूठ-झूठ का धन्धा प्यारी, झूठ-मूठ का धन्धा!"

"पर तनिक तो ठहरो!"

"अब नहीं, देखूँ भैया को वहाँ कैसे रक्खा गया है।"

"तो जाओ फिर।"

"जाता हूँ।"

सुखदास धीरे-धीरे घर से बाहर चला गया। सुन्दरी आँखों में आँसू भरे एकटक देखती रही।

—:*:—

गुरु-शिष्य

वज्रसिद्ध आचार्य का रंग अत्यन्त काला था। डीलडौल के भी वे खूब लम्ब-तड़ङ्ग थे। शरीर उनका अत्यन्त कृश था। बस हड्डियों के ढाँचे पर चमड़ी का खोल मढ़ा था। गोल-गोल आँखें गढ़े में धँसी थीं। गालों पर उभरी हुई हड्डी एक विशेष भयानक आकृति बनाती थी। उनका लोक नाम शवर प्रसिद्ध था। वे भूत-प्रेत-बैतालों के स्वामी कहे जाते थे। मारण-मोहन, उच्चाटन तन्त्र-मन्त्र के वे रहस्यमय ज्ञाता थे। वे नीच कुलोत्पन्न थे। कोई कहता—वे जात के डोम हैं, कोई उन्हें धोबी बनाता था। वे प्रायः अटपटी भाषा में बातें किया करते थे। लोग उनसे भय खाते थे। पर उन्हें परम सिद्ध समझ कर उनकी पूजा भी करते थे। वज्रयान सम्प्रदाय के वे माने हुए आचार्य थे। इसी से भिक्षु धर्मानुज को उन्हीं का अन्तेवासी बनाया गया था। धर्मानुज को एक कोठरी रहने को, दो चीवर और दो सारिकाएँ दी गईं थीं। एकान्त मनन करने के साथ ही वह आचार्य वज्रसिद्ध से वज्रयान के गूढ़ सिद्धान्त भी समझता था, परन्तु शीघ्र ही गुरु-शिष्य में खटपट हो गई। भिक्षु धर्मानुज एक सीधा सदाचारी किन्तु दृढ़ चित्त का पुरुष था। वह तन्त्र-मन्त्र और उनके गूढ़ प्रभावों पर विश्वास नहीं करता था। अभिचार प्रयोगों से भी उसने विरक्ति प्रकट की। इसी से एक दिन गुरु-शिष्य में ठन गई। गुरु ने कहा—सौम्य धर्मानुज,

विश्वास से लाभ होता है। पर धर्मानुज ने कहा—आचार्य, मैंने सुना था—ज्ञान से लाभ होता है।

"परन्तु ज्ञान गुरू की भक्ति से प्राप्त होता है।"

"इसकी अपेक्षा सूक्ष्म विवेक-शक्ति अधिक सहायक है।"

"तू मूढ़ है आयुष्मान्।"

"इसी से मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

"तो यह मन्त्र सिद्ध कर—किलि, किलि, धिरि, धिरि, हुरु, हुरु वैरोचन गर्भ सञ्चित गस्थरियकस गर्भ महाकारुणिक, ओम् तारे ओम तुमतारेतुरे स्वाहा।"

"यह कैसा मन्त्र है आचार्य।"

"यह रत्नकूट सूत्र है। घोख इसे।"

"पर यह तो बुद्ध वाक्य नहीं है।"

"अरे मूढ़! यह गुरू वाक्य है।"

"पर इसका अर्थ क्या है आचार्य?"

"अर्थ से तुझे क्या प्रयोजन है, इसे सिद्ध कर।"

"सिद्ध करने से क्या होगा?"

"डाकिनी सिद्ध होगी। खेचर मुद्रा प्राप्त होगी।"

"आपको खेचर मुद्रा प्राप्त है आचार्य।"

"है!"

"तो मुझे कृपा कर दिखाइए।"

"अरे अभद्र, गुरु पर सन्देह करता है, तुझे सौ योनि तक विष्ठा-कीट बनना पड़ेगा।"

"देखा जायगा। पर मैं आपका खेचर मुद्रा देखना चाहता हूँ।"

"किसलिए देखना चाहता है।"

"इसलिए कि यह केवल ढोंग है। इसमें सत्य नहीं है।"

"सत्य किसमें है?"

"बुद्ध वाक्य में।"

"कौन से बुद्ध वाक्य रे मूढ़!"

"सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् विचार और सम्यक् ध्यान, ये आठ आर्ष सत्य हैं। जो भगवान बुद्ध ने कहे हैं।

"किन्तु, आचार्य तू कि मैं?"

"आप ही आचार्य, भन्ते!"

"तो तू मुझे सिखाता है, या तू सीखता है।"

"मैं ही सीखता हूँ भन्ते!"

"तो जो मैं सिखाता हूँ वह सीख।"

"नहीं, जो कुछ भगवान बुद्ध ने कहा—वही सिखाइए आचार्य।"

"तू कुतर्की है।"

"मैं सत्यान्वेशी हूँ आचार्य!"

"तू किसलिए प्रव्रजित हुआ है रे?"

"सत्य के पथ पर पवित्र जीवन की खोज में।"

"तू क्या देव-दुर्लभ सिद्धियाँ नहीं चाहता?"

"नहीं आचार्य।"

"क्यों नहीं?"

"क्योंकि वे सत्य नहीं हैं, पाखण्ड हैं।"

"तब सत्य क्या तेरा गृह-कर्म है।"

"गृह-कर्म भी एक सत्य है। इन सिद्धियों से तो वही अच्छा है।"

"क्या?"

"पति-प्राणा साध्वी पत्नी, रत्न मणि का सुकुमार-कुमार, आनन्द-हास्य और सुखपूर्ण गृहस्थ जीवन।"

"शान्तं पापं, शान्तं पापं।"

"पाप क्या हुआ भन्ते।"

"अरे तू भिक्षु होकर अभी तक मन में योग वासनाओं को बनाए है।"

"तो आचार्य मैं अपनी इच्छा से तो भिक्षु बना नहीं, मेरे ऊपर बलात्कार हुआ है।"

"किसका बलात्कार रे पाखण्डी!"

"आप जिसे कर्म कहते हैं उस अकर्म का, आप जिसे पुण्य कहते हैं उस पाप कर्म का, आप जिसे सिद्धियाँ कहते हैं उस पाखण्ड कर्म का।"

"तू वञ्चक है, लण्ठ है, तू दण्डनीय है, तुझे मनःशुद्धि के लिए चार मास महातामस में रहना होगा।"

"मेरा मन शुद्ध है आचार्य।"

"मैं तेरा शास्ता हूँ, तुमसे अधिक मैं सत्य को जानता हूँ। क्या तू नहीं जानता, मैं त्रिकालदर्शी सिद्ध हूँ।"

"मैं विश्वास नहीं करता आचार्य।"

'तो चार मास महातामस में रह। वहाँ रहकर तेरी मनः शुद्धि होगी। तब तू सिद्धियाँ सीखने और मेरा शिष्य होने का अधिकारी होगा।'

उन्होंने पुकार कर कहा—अरे, किसी आसमिक को बुलाओ।

बहुत से शिष्य-वटुक भिक्षु इस विद्रोही भिक्षु का गुरु-शिष्य सम्वाद सुन रहे थे। उनमें से एक सामने से दौड़ कर दो आसमिकों को बुला लाया। आचार्य ने कहा—ले जाओ इस भ्रान्त मति को, चार मास के लिए महातामस में डाल दो, जिससे इसकी आत्मशुद्धि हो और सद्धर्म के मर्म को यह समझ सके।

आसमिक उसे ले चले।

महातामस

यह एक अँधेरा तहखाना था, जो भूगर्भ में बनाया गया था। एक प्रकार से विहार की यह काल कोठरी थी। जहाँ दिन को भी कभी सूर्य के प्रकाश की एक किरण नहीं पहुँच पाती थी। वहाँ दिन रात सूची-भेद्य अन्धकार रहता था। यहाँ अनेक छोटी छोटी कोठरियाँ थी, जिनमें अनेक ऐसे अभागे बन्द थे जो इन आचार्यों की स्वेच्छाचारिता में बाधा डालते, या उनकी राह में रोड़े अटकाते थे। बहुत से तो वहाँ से जीवित निकल नहीं पाते थे। जो निकल पाते थे, उनमें अनेक पागल हो जाते या असाध्य रोगों के शिकार बन जाते थे। कोठरियों में अन्धकार ही नहीं, सील भी बहुत रहती थी। ये कालकोठरियाँ भूगर्भ में नदी के साथ सटी हुई थीं। बहुत से जीवित तथा मृत अभागे बन्दी—यहीं से जलप्रवाह में फेंक दिए जाते थे।

भिक्षु धर्मानुज को एक कोठरी में धकेल कर आसमिक ने द्वार पर ताला जड़ दिया। बड़ी देर तक तो उसे कुछ सूझा ही नहीं। फिर धीरे-धीरे उसकी आँखें अन्धकार को सहन कर गईं। उसने देखा—कोठरी अत्यन्त गन्दी, सील भरी और दुर्गन्धित है। उसमें अनेक कीड़े रेंग रहे हैं। जो उसके शरीर को छू जाने लगे। पर धर्मानुज ने धैर्यपूर्वक अपने को इस विपत्ति के सहने के योग्य बना लिया। वह कोठरी के एक कोने में पड़े काष्ठ फलक पर जाकर बैठ गया। और अपने भूत भविष्य का विचार करने लगा। कभी तो वह अपने राजसी ठाट-बाट से युक्त घरके जीवन

को याद करता और कभी इन वज्रयानियों के पाखण्डों की कल्पना करता। अब तक उसने बहुत-सी बातें केवल सुनी हीं थी। पर अब तो वह प्रत्यक्ष हो देख रहा था। वह जानता था—कि उसे बिना ही अपराध के ऐसा भयानक दण्ड दिया गया है। उसके पिता की सम्पत्ति हरण करने का यह सारा आयोजन है—यह वह जानता था। अब उसे सन्देह होने लगा कि वे लोग उसे जान से मार कर अपनी राह का कंटक दूर करना चाहते हैं, न जाने ऐसे कितने कंटक वे नित्य दूर करते हैं। बौद्ध-सिद्धों की यह कुत्सित हिंसक वृत्ति देख वह आतंक से काँप उठा।

सुखानन्द का आगमन

प्रातःकाल का समय था। बिहार का सिद्धिद्वार अभी खुला ही था। इस द्वार से नागरिक श्रद्धालु जन, श्रावक और बाहरी भिक्षु बिहार के बहिरन्तरायण में आ जा सकते थे, किन्तु बिहार के भीतर नहीं प्रविष्ट हो सकते थे। इस समय बहुत से गृहस्थ नागरिक, देवी वज्रतारा के दर्शनों को आ जा रहे थे। भिक्षुगण इधर-उधर घूम रहे थे। कोई सूत्र घोख रहा था। कोई चीवर धो रहा था। कोई स्थान-शुद्धि में लगा था। सुखदास भिक्षु वेश में धम्मपद गुनगुनाता दिवोदास की खोज में इधर-उधर घूम रहा था। पर दिवोदास का कहीं पता नहीं लग रहा था।

एक भिक्षु ने उसे टोक कर कहा—"मूर्ख, बिहार में गाता है? नहीं जानता, गाना विलास है, भिक्षु को मन्त्र-पाठ करना चाहिये।"

सुखदास ने आँखें कपार पर चढ़ा कर कहा—मुझे मूर्ख कहने वाला ही मूर्ख है, अरे, मैं त्रिगुण सूत्र का पाठ कर रहा हूँ, जानता है?

"त्रिगुण सूत्र?"

"हाँ हाँ, पर वह कण्ठ से उतरता नहीं है। जानते हो त्रिगुण सूत्र?"

"नहीं जानता भदन्त, तुम कौन यान में हो"

"बात मत करो, सूत्र भूला जा रहा है।" सुखदास गुनगुनाता फिर एक ओर को चल दिया। कुछ दूर जाकर उसने आप ही आप भुनभुनाते हुए कहा—"वाह, क्या-क्या सफाचट खोपड़ियाँ यहाँ जमा हैं, जी चाहता है दिन भर इन्हें चपतियाता रहूँ। पर अपने राम को कुमार को टटोलना

है। पता नहीं इस समुद्र से कैसे वह मोती ढूँढ़ा जायगा। वह एक बूढ़ा भिक्षु जा रहा है, पुराना पापी दीख पड़ता है। इसी से पूछूँ। सुखदास ने आगे बढ़ कर कहा—'भदन्त, नमो बुद्धाय।'

"नमो बुद्धाय"

"भदन्त, कह सकते हो, भिक्षु धर्मानुज कहाँ है?"

"तुम मूर्ख प्रतीत होते हो। नहीं जानते वह महातामस में आचार्य की आज्ञा से प्रायश्चित कर रहा है।"

"यह महातामस कहाँ है भदन्त?"

"शान्तं पापं, अरे, महातामस में तुम जाओगे? जानते हो वहाँ जो जाता है उसका सिर कट कर गिर पड़ता है। वहाँ चौसठ सहस्र डाकिनियों का पहरा है।"

"ओहो हो, तो भदन्त, किस अपराध में भिक्षु धर्मानन्द को महातामस दिया गया है।" इतने में दो तीन भिक्षु वहाँ और आ गये। उन्होंने सुखदास की अन्तिम बात सुन ली। सुनकर वे बोल उठे—"मत कहो, मत कहो, कहने से पाप लगेगा।"

उसी समय आचार्य वज्रसिद्ध उधर आ निकले। आचार्य ने कहा—

"तुम लोग यहाँ क्या गोष्ठी कर रहे हो?"

"आचार्य, यह भिक्खू कहता है...—"

"समझ गया, तुम लोगों ने महानिर्वाण सुत्त घोखा नहीं।"

"आचार्य, यह भिक्खू पूछता है..."

"क्या?"

"पाप, पाप, भारी पाप।"

"अरे कुछ कहोगे भी या योंही पाप-पाप।"

"कैसे कहें, पाप लगेगा आचार्य।"

"कहो, मैंने पवित्र वचनों से तुम्हें पापमुक्त किया"

"तब सुनिये, वह जो नया भिक्षु दिवोदास..."

"धर्मानुज कहो। वह तो महातामस में है ?"

"जी हाँ।"

"महातामस में, वह चार मास में दोषमुक्त होगा।"

"किन्तु यह भिक्खू कहता है—कि मैं वहाँ जाऊँगा।"

"क्यों रे ?" आचार्य ने आँखें निकाल कर सुखदास की ओर देखा।

सुखदास ने बद्धाञ्जलि होकर कहा—"किन्तु आचार्य, भिक्षु धर्मानुज ने क्या अपराध किया ?"

"अपराध ? अरे तू उसे केवल अपराध ही कहता है।"

"आचार्य मेरा अभिप्राय पाप से है।"

"महापाप किया है उसने, उसका मन भोग-वासना में लिप्त है, वह कहता है, उसपर बलात्कार हुआ है—मन की शुद्धि के लिये संघ-स्थविर ने उसे चार मास के महातामस का आदेश दिया है।"

"कैसी मन की शुद्धि आचार्य ?"

"अरे! तू कैसा भिक्षु है, बिहार के साधारण धर्म को भी नहीं जानता ?"

"किन्तु इसी बात में इतना दोष ?"

"बुद्धं शरणं। तू निरा मूर्ख है। तुझे भी प्रायश्चित करना होगा ?"

"क्या गरम शीसा पीना होगा ?"

"ठीक नहीं कह सकता, विधान पिटक में तेरे लिये दस हजार प्रायश्चित हैं।"

"बाप रे, दस हजार ?"

"जाता हूँ, अभी मुझे सूत्रपाठ करना है। देखता हूँ बिहार अनाचार का केन्द्र बनता जा रहा है।"

आचार्य बड़बड़ाते एक ओर चल दिए। सुखदास मुँह बाए खड़ा रह गया।

—:०:—

वज्रतारा का मन्दिर

वज्रतारादेवी के मन्दिर के भीतरी आलिन्द में महासंघस्थविर वज्र-सिद्ध कुशासन पर बैठे थे। सम्मुख वज्रतारा की स्वर्ण-प्रतिमा थी। प्रतिमा पूरे कद की थी। उसके सिर पर रत्न-जड़ित मुकुट था। हाथ में हीरक दण्ड था। मूर्ति सोने के अठपहल सिंहासन पर पद्मासन से बैठी थी। मूर्ति के पीछे पाँच कोण का यन्त्र था। जिसपर नामाचार के अङ्क अङ्कित थे। मूर्ति सर्वथा दिगम्बर थी।

वज्रसिद्ध के आगे विधान की पुस्तक खुली पड़ी थी। वे उसमें से मन्त्र पढ़ते जाते तथा पूजा-विधि बोलते जाते थे। बारह भिक्षु, भिन्न-भिन्न पात्र हाथ में लिये, पूजा-विधि सम्पन्न कर रहे थे। बहुत से नागरिक भक्ति भाव से करबद्ध पीछे बैठे थे। मन्दिर का घण्टा निरन्तर बज रहा था। आचार्य पूजा-विधि तो कर रहे थे परन्तु उनका मन वहाँ नहीं था। वे बीच-बीच में व्यग्र भाव से इधर-उधर देख लेते थे।

इसी समय महानन्द ने मन्दिर में प्रवेश किया। वह चौकन्ना हो इधर-उधर देखता हुआ, धीरे-धीरे भीतर की ओर अग्रसर हुआ। और संघस्थविर के पीछे वाली खिड़की में जा खड़ा हुआ। किसी का ध्यान उधर नहीं गया। परन्तु वज्रसिद्ध को उसका आभास मिल गया। फिर भी उन्होंने आँख फेरकर उधर देखा नहीं। हाँ कुछ संतोष की भावना उनके चित्त में अवश्य उत्पन्न हो गई।

महानन्द ने देखा—पूजा में सब सफेद फूल काम में लाये जा रहे

हैं। उसने अवसर पा एक फूल वज्र सिद्ध के आगे फेंक दिया। महानन्द की ओर किसी की दृष्टि न थी। उसके इस काम को भी किसी ने नहीं देखा। ऐसी ही उसकी मान्यता भी थी। परन्तु वास्तव में एक पुरुष की आँखों से वह ओझल नहीं हो सका। और वह था सुखदास।

सुखदास ने उसकी चाल और रंग ढंग देखकर ही पहचान लिया था कि वह कोई रहस्यपूर्ण पुरुष है, इस प्रकार अपने को छिपा कर तथा चौकन्ने होकर चलने का दूसरा कारण हो भी क्या सकता था। अतः सुखदास ने छिपकर उसका पीछा किया। और अब यहाँ खम्मे की ओट में खड़ा हो उसकी गतिविधि देखने लगा।

लाल फूल देखते ही आचार्य चौंक उठे। मन्त्र पाठ के स्थान पर उनके मुँह से निकल पड़ा—अरे! यह तो युद्ध का संकेत है। उन्होंने नजर बचाकर एक बार महानन्द की ओर देखा। एक कुटिल हास्य उनके ओठों पर खेल गया। उसने फूल के चार टुकड़े कर उत्तर दिशा में फेंक दिए। उनके हिलते हुए ओठों से लोगों से समझा, यह भी पूजा विधि ही होगी।

थोड़ी ही देर में एक भिक्षु कुछ वस्तु उठाने के बहाने उनके कान के पास झुक गया। आचार्य ने उसके कान में कहा—देख एक आदमी उत्तर तोरण के चतुर्थ द्वार पर खड़ा है। उसे गुप्त राह से पीछे वाली गुफा में ले जा।

भिक्षु नमन कर के चला गया। संघस्थविर ने आचार्य बुद्धगुप्त को संकेत से पास बुला कर कहा—"तुम यहाँ पूजन विधि सम्पन्न करो। मैं अभी जाकर जाप में बैठता हूँ। देखना मेरे जाप में विघ्न न हो।"

बुद्धगुप्त ने सहमति संकेत किया। संघस्थविर उठकर एक ओर चल दिए। बुद्धगुप्त आसन पर बैठकर पूजन विधि सम्पन्न करने लगे।

लोगों ने ससम्भ्रम आचार्य पाद को मार्ग दिया। वे भूमि में

झुक गए। आचार्य ने मुस्कुराकर, सबको दोनों हाथ उठाकर, कल्याण-कल्याण का आशीर्वाद दिया।

जिस भिक्षु को आचार्य ने महानन्द को ले आने का आदेश दिया था—उसका सुखदास ने पीछा किया। जब वह महानन्द को गुप्त राह से ले चला तो सुखानन्द अत्यन्त सावधानी से उनके पीछे ही पीछे चला। अन्त में वे एक छोटे से द्वार को पार कर एक अन्धेरे अलिन्द में जा पहुँचे। वहाँ घृत के दीपक जल रहे थे। द्वार को पीछे से बन्द करने की सावधानी नहीं की गई, इससे सुखदास को अनुगमन करने में बाधा नहीं हुई।

वज्रसिद्ध ने आते ही कहा—'क्या समाचार है, महानन्द! तुमने तो बड़ी प्रतीक्षा कराई।'

"आचार्य, मैंने एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोया।"

"तो समाचार कह।"

"काशीराज के दर्बार में हमारी चाल ऽऽ गई है।" उनसे आँख से संकेत करके कहा।

"तो तुम सीधे वाराणसी से ही आ रहे हो।"

"महाराज काशीराज जो यज्ञ कर रहे हैं, उसमें आपको निमन्त्रित करने दूत आ रहा है।"

"वह तो है, परन्तु महाराज ने भी कुछ कहा?"

"जी हाँ, महाराज ने कहा है कि—(कान में झुक कर) महाराज तो आचार्य की कृपा पर निर्भर हैं।"

वज्रसिद्ध हँस पड़े। हँस कर बोले—'समझा, समझा, अरे, दया तो हमारा धर्म ही है, परन्तु धूत पापेश्वर का वह पाखण्डी पुजारी...?"

"सिद्धेश्वर?...वह आचार्यपाद के विमुख नहीं है।"

"तब आसानी से काशीराज का नाश किया जा सकता है। और

इस ब्राह्मण के मन्दिर को भी लूटा जा सकता है। जानते हो कितनी सम्पदा है उस मन्दिर में ? अरे, शत शत वर्ष की सञ्चित सम्पदा है।"

"तो प्रभु, सिद्धेश्वर महाप्रभु आप से बाहर नहीं हैं।"

"तो वाराणसी पर सद्धर्मियों का अधिकार करने का जो मैं स्वप्न देख रहा हूँ वह अब पूर्ण होगा ? इधर श्रेष्ठि धनञ्जय का पुत्र दिवोदास के भिक्षु हो जाने से सेठ की अटूट सम्पदा हमारे हाथ में आई समझो। इतने से तो हमें पचास हजार सैन्य दल और शस्त्र जुटाना सहल हो जायगा ?"

"अरे, तो क्या सेठ के पुत्र ने दीक्षा ले ली ?"

"नहीं तो क्या ?"

"किन्तु आचार्य, वह धोखा दे सकता है, मैं भली भाँति जानता हूँ, उसे सद्धर्म पर तनिक भी श्रद्धा नहीं है !"

"यह क्या मैं नहीं जानता ? इसी से मैंने उसे ४ मास के लिए महा तामस में डाल दिया है। तब तक तो काशी राज और उदन्तपुरी के महाराज ही न रहेंगे।"

"परन्तु आचार्य, सेठ यह सुनेगा तो वह महाराज को अवश्य उभारेगा। यह ठीक नहीं हुआ।"

"बहुत ठीक हुआ।"

इसी समय एक भिक्षु ने आकर बद्धाञ्जलि हो आचार्य से कहा— "प्रभु काशीराज के मन्त्री श्री चरणों के दर्शन की प्रार्थना करते हैं।"

वज्रसिद्ध ने प्रसन्न मुद्रा से महानन्द की ओर देखते हुए कहा— 'भद्र महानन्द, तुम महामंत्री को आदर पूर्वक तीसरे अलिन्द में बैठाओ। और कहो कि आचार्य पाद त्रिपटिक सूत्र का पाठ कर रहे हैं, निवृत्त होते ही दर्शन देंगे।'

महानन्द—जो आज्ञा आचार्य, कह कर चला गया।

वज्रसिद्ध प्रसन्न मुद्रा से कक्ष में टहलते हुए आप ही आप कहने

लगा, बहुत अच्छा हुआ, सब कुछ आप ही आप ठीक होता जा रहा है। यदि काशीराज, लिच्छिविराज से सन्धि कर ले और सद्धर्मी हो जाय तथा धूत पापेश्वर की सब सम्पत्ति संघ को मिल जाय तो ठीक है, नहीं तो इसका सर्वनाश हो। यदि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जाय तो फिर एक बार सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में वज्रयान का साम्राज्य हो जाय।

-:*:-

टेढ़ी चाल

काशी के महामात्य का नाम शिवशर्मा था। वे एक वृद्ध विद्वान् शैव ब्राह्मण थे। राजनीति और धर्मनीति में बड़े पण्डित थे। काशीराज वंश की इन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि तथा नीति से बहुत बार रक्षा की थी। इनका वैभव भी राजा से कम न था। वह समय ही ऐसा था। राजा और मन्त्री का गुट्ट, क्षत्रिय और ब्राह्मण का गुट्ट था। ये ब्राह्मण ही इन राजाओं की सत्ता को अखण्ड बनाए रखते थे। वे राजा को ईश्वर का आंशिक अवतार बताते और उसकी सभी उचित अनुचित आज्ञा को ईश्वरीय विधान के समान सिर झुकाकर मानना, सब प्रजा का धर्म बताते थे। इसके बदले इन्हें पुरोहिताई तथा मन्त्री के अधिकार प्राप्त हुए थे। राजा लोग इन ब्राह्मण मन्त्रियों पर अपने भाई बन्धु से भी अधिक विश्वास रखते थे। इनका वैभव—महल, ऊपरी ठाठ-बाट राजा से किसी अंश में कम न होता था। ये ही मन्त्री, राजा की धर्मनीति और राजनीति के संचालक थे।

काशी के महामात्य, आचार्य के लिए बहुत सी भेंट-सामग्री साथ लाए थे। उसे देखकर वज्रसिद्ध ने प्रसन्न मुद्रा से कहा।

"आमात्यवर, काशीराज कुशल से तो हैं?"

"आचार्य के अनुग्रह से सब कुशल है।"

"मैं नित्य देवी वज्रतारा से उनकी मंगल कामना करता हूँ। हाँ, महाराज यज्ञ कर रहे हैं?"

"उसी में पधारने के लिए मैं आपको आमन्त्रित करने आया हूँ। महाराज ने साञ्जलि प्रार्थना की है कि आचार्य भिक्षुसंघ सहित पधारें।"

"परन्तु महामात्य, यज्ञ में पशुवध होगा, गवालम्भन होगा, यह सब तो सद्धर्म के विपरीत है।"

"आचार्य, प्रत्येक धर्म की एक परिपाटी है। उसकी आलोचना से क्या लाभ? काशीराज आप पर श्रद्धा रखते हैं, इसी से उन्होंने आपको स्मरण किया है। फिर परस्पर धार्मिक सहिष्णुता तो इसी प्रकार बढ़ सकती है।"

"यह तो ठीक है, परन्तु काशीराज तो कभी इधर आए ही नहीं।"

"तो क्या हुआ, मैं उनका प्रतिनिधि देवी वज्रतारा का प्रसाद लेने आया हूँ।"

"साधु-साधु, मंत्रीवर देवी वज्रतारा का प्रसाद लो"—आचार्य ने व्यग्र भाव से इधर उधर देखा। महानन्द अभिप्राय समझ बद्धाञ्जलि पास आया। आचार्य ने कहा—"भद्र महानन्द! आमात्य राज को देवी का प्रसाद दो।"

महानन्द ने 'जो आज्ञा' कह, एक भिक्षु को संकेत किया। भिक्षु ने प्रसाद मन्त्री को अर्पित किया।

प्रसाद लेकर मन्त्री ने कहा—"अनुगृहित हुआ आचार्य।"

"मंत्रीवर, आपकी सद्धर्म में ऐसी ही श्रद्धा बनी रहे।"

"आचर्य काशीराज आप ही के अनुग्रह पर निर्भर हैं।"

"तो आमात्यराज, मैं उनकी कल्याण-कामना से बाहर नहीं हूँ।"

"ऐसी ही हमारी भावना है, क्या मैं कुछ निवेदन करूँ?"

"क्यों नहीं?"

"क्या लिच्छिविराज काशी पर अभियान करना चाहते हैं?"

"ऐसा क्यों कहते हैं मन्त्रिवर?"

"मुझे विश्वस्त सूत्र से पता लगा है।"

"तो उस राजनीति को मैं क्या जानूँ।"

"लिच्छिविराज तो आपके अनुगत हैं आचार्य !"

"मंत्रीवर, मैं केवल अपने संघ का आचार्य हूँ, लिच्छिविराज का मंत्री नहीं।"

"परन्तु आचार्य, वे आपकी बात नहीं टालेंगे।

"क्या आप यह चाहते हैं कि मैं लिच्छिविराज से काशीराज के लिए अनुरोध करूँ ?"

"मैं नहीं आचार्य, काशीराज का यह अनुरोध है।"

"क्या काशीराज ने ऐसा कोई लेख आपके द्वारा भेजा है ?"

"यह है आचार्य।"

लेख पढ़कर कुछ देर बाद वज्रसिद्ध ने गम्भीर मुद्रा से कहा—

"तो मैं काशीराज का अतिथि बनूँगा।"

"काशीराज अनुगृहित होंगे आचार्य।"

"मैं यज्ञ में आऊँगा।"

"अनुग्रह हुआ आचार्य।"

"तो महामात्य, एक बात है, लिच्छिविराज का आक्रमण रोक दिया जायगा, पर लिच्छिविराज का अनुरोध काशीराज को मानना पड़ेगा।"

"वह क्या ?"

"यह मैं अभी कैसे कहूँ।"

"तब ?"

"क्या काशीराज मुझ पर निर्भर नहीं हैं ?"

"क्यों नहीं आचार्य ?"

"तब उसकी कल्याण-कामना से मैं जैसा ठीक समझूँगा करूँगा।"

"ऐसा ही सही आचार्य, काशीराज तो आपके शरण।"

"काशीराज का कल्याण हो।"

मन्त्री ने अभिवादन किया और चले गए। आचार्य वज्रसिद्ध बड़ी देर तक कुछ सोचते रहे। इसमें सन्देह नहीं कि सुखदास ने यह सब बातें अक्षरशः सुन लीं।

गूढ़ योजना

मन्त्री के जाते ही महानन्द ने सम्मुख आकर कहा—

"अब आचार्य की मुझे क्या आज्ञा है ?"

"वाराणसी चलना होगा भद्र, साथ कौन जायगा ?"

"क्यों, मैं ?"

"नहीं, तुम्हें मेरा सन्देश लेकर अभी लिच्छिविराज के पास जाना होगा।"

"तब ?"

"धर्मानुज, और ग्यारह भिक्षु और कुल बारह भिक्षु।"

"धर्मानन्द क्यों ?"

"उसमें कारण है, उसे मैं यहाँ अकेला नहीं छोड़ूँगा। सम्भव है यश ही युद्ध क्षेत्र हो जाय।"

"यह भी ठीक है, परन्तु उसका प्रायश्चित।"

"उसे मैं अपने पवित्र वचनों से अभी दोष मुक्त कर दूँगा।"

महानन्द ने हँसकर कहा—"आप सर्वशक्तिमान् पुरुष हैं।"

वज्रसिद्ध भी हँस दिए। उन्होंने कहा—"ग्यारह शिष्य छाँटो, मैं धर्मानुज को देखता हूँ।"

"जैसी आचार्य की आज्ञा।"

अँधेरे और गन्दे तलगृह में धर्मानुज काष्ठफलक पर बैठा कुछ सोच रहा था। वह सोच रहा था—'जीवन के प्रभात में, महल-अटारी, सुख

साज, त्याग कर क्या पाया ? यह गन्दी, घृणित और अँधेरी कोठरी ? बाहर कैसा सुन्दर संसार है, धूप खिल रही है। मन्द पवन के झोंके चल रहे हैं। पक्षी भाँति-भाँति के गीत गा रहे हैं। परन्तु धर्म के लिए इन सबको त्यागना पड़ता है। यह धर्म क्या वस्तु है ? यहां जो कुछ है—यदि यही धर्म है, तब तो वह मनुष्य का कट्टर शत्रु दीख पड़ता है।

इसी समय सुखदास ने वहाँ पहुँच कर झरोखे से झाँक कर देखा। भीतर अँधेरे में वह कुछ देख न सका। परन्तु उसे दिवोदास के उद्गार कुछ सुनाई दिए। उसका हृदय क्रोध और दुःख से भर गया।

उसने बाहर से खटका किया।

धर्मानुज ने खिड़की की ओर मुँह करके कहा—"कौन है भाई।"—"भैयाजी, क्या हाल है ? अभी आत्मा पवित्र हुई या नहीं ?"

"धीरे-धीरे हो रही है, किन्तु तुम कौन हो ?"

"मैं मैं ! सुखदास ?"

"ओह पितृव्य ! अरे, तुम यहाँ कहाँ ?"

"चुप ! मैं सुखानन्द भिक्षु हूँ, तुम्हारी कल्याण कामना से यहाँ आया हूँ।"

"उसके लिए तो संघस्थविर ही यथेष्ट थे, इस अन्ध नरक में मेरी यथेष्ट कल्याण कामना हो रही है।"

"आज इस नरक से तुम्हारा उद्धार होगा, आशीर्वाद देता हूँ ?"

"किन्तु अभी तो प्रायश्चिय की अवधि भी पूरी नहीं हुई है।"

"तो इससे क्या ? भिक्षु सुखानन्द का आशीर्वाद है यह।"

"पहेली मत बुझाओ यहाँ, बात जो है वह कहो।"

"तो सुनो, संघस्थविर जा रहे हैं काशी, उनके साथ १२ भिक्षु जाएँगे। उनमें तुम्हें भी चुना गया है।"

"काशी क्यों जा रहे हैं आचार्य।"

"समझ सकोगे ? काशीराज और अपने महाराज का सर्वनाश करने का षड़यन्त्र रचने।"

"सर्वत्यागी भिक्षुओं को इससे क्या मतलब ?"

"महासंघस्थविर वज्रसिद्ध त्यागी भिक्षु नहीं हैं। वे राज मुकुटों के मिटाने और बनाने वाले हैं।"

"फिर यह धर्म का ढोंग क्यों ?"

"यही उनका हथियार है, इसी से उनकी विजय होती है।"

"और पवित्र धर्म का विस्तार !"

"वह सब पाखण्ड है।"

"तुम यहाँ क्यों आए पितृव्य ?"

"तब कहाँ जाता ? जहाँ गाय वहाँ बछड़ा।"

"समय क्या है ? इस अन्धकार में तो दिन रात का पता ही नहीं चलता।"

"पूर्व दिशा में लाली आ गई है, सूर्योदय होने ही वाला है। संघस्थविर आ रहे हैं। मैं चलता हूँ।"

"संघस्थविर इस समय क्यों आ रहे हैं।"

"तुम्हें पाप-मुक्त करने, आज का मनोरम सूर्योदय तुम देख सकोगे—यह भिक्षु सुखानन्द का आशीर्वाद है।"

सुखानन्द का मुँह खिड़की पर से लुप्त हो गया। इसी समय एक चीत्कार के साथ भूगर्भ का मुख्य द्वार खुला। आचार्य वज्रसिद्ध ने भीतर प्रवेश किया। उनके पीछे नङ्गी तलवार हाथ में लिए महानन्द था। आचार्य ने कहा—

"वत्स धर्मानुज, क्या तुम जाग रहे हो ?"

"हाँ आचार्य, अभिवादन करता हूँ।"

"तुम्हारा कल्याण हो, धर्म में तुम्हारी सद्गति रहे। आओ मैं तुम्हें पाप मुक्त करूँ।"

उन्होंने मन्त्र पाठकर पवित्र जल उसके मस्तक पर छिड़का, और कहा—"तुम पाप-मुक्त हो गए, अब बाहर आओ।"

"यह क्या आचार्य, अभी तो प्रायश्चित काल पूरा भी नहीं हुआ?"

"मैंने तुम्हें पवित्र वचन से शुद्ध कर दिया। प्रायश्चित् की आवश्यकता नहीं रही।"

"नहीं आचार्य, मैं पूरा प्रायश्चित करूँगा।"

"वत्स, तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

"आपकी आज्ञा से धर्म की आज्ञा बढ़कर है।"

"हमीं धर्म को बनाने वाले हैं धर्मानुज, हमारी आज्ञा ही सबसे बढ़कर है।"

"आचार्य, मैंने बड़ा पातक किया है।"

"कौन सा पातक वत्स?"

"मैंने सुन्दर संसार को त्याग दिया, यौवन का तिरस्कार किया, ऐश्वर्य को ठोकर मारी, उस सौभाग्य को कुचल दिया जो लाखों मनुष्यों में एक पुरुष को मिलता है।"

"शान्तं पापं। यह अधर्म नहीं धर्म किया। तथागत ने भी यही किया था पुत्र?"

"उनके हृदय में त्याग था। वे महापुरुष थे। किन्तु मैं तो एक साधारण जन हूँ। मैं त्यगी नहीं हूँ।"

"संयम और अभ्यास से तुम वैसे बन जाओगे।"

"यह बलात् संयम तो बलात् व्यभिचार से भी अधिक भयानक है!"

"यह तुम्हारे विकृत मस्तिष्क का प्रभाव है, वत्स!"

"आपके इन धर्म सूत्रों में, इन विधानों में, इस पूजा-पाठ के पाखण्ड में, इन आडम्बरों में मुझे तो कहीं भी संयम शान्ति नहीं दीखता और न धर्म दीखता है। धर्म का एक कण भी नहीं दीखता।"

"पुत्र, सद्धर्म से विद्रोह मत करो, बुरा मत कहो।"

आचार्य, आप यदि जीवन को स्वाभाविक गति नहीं दे सकते तो संसार को सद्धर्म का कैसे सन्देश दे सकते हैं।"

"पुत्र, अभी तुम इन सब धर्म की जटिल बातों को न समझ सकोगे। मेरी आज्ञा का पालन करो। इस महातामस से बाहर आओ। और स्नान कर पवित्र हो देवी वज्रतारा का पूजन करो, तुम्हें मैंने अपने बारह प्रधान शिष्यों का प्रमुख बनाया है। हम वाराणसी चल रहे हैं।"

आचार्य ने उत्तर की प्रतिक्षा नहीं की। वे बाहर निकले। सम्मुख होकर सुखानन्द ने साष्टाङ्ग दण्डवत की। आचार्य ने कहा—अरे भिक्षु! जा उस धर्मानुज को महा अन्ध तामस से बाहर कर, उसे स्नान करा, शुद्ध वस्त्र दे और देवी के मन्दिर में ले आ।

सुखदास ने मन की हँसी रोक कर कहा—जो आज्ञा आचार्य।

उसने तामस में प्रविष्ट होकर कहा—"भैया जो कुछ करना धरना हो पीछे करना। अभी इस नरक से बाहर निकलो। और इन पाखण्डियों के भण्डाफोड़ की व्यवस्था करो।"

दिवोदास ने और विरोध नहीं किया। वह सुखदास की बाँह का सहारा ले धीरे-धीरे महातामस से बाहर आया। एक बार फिर सुन्दर संसार से उसका संपर्क स्थापित हुआ।

-:०:-

वाराणसी

वाराणसी शैवधर्म का पुरातन मूल स्थान है। यहाँ धूत पापेश्वर का मन्दिर बड़ा विशाल था। उसका स्वर्ण कलश गगन चुम्बी था। सम्पूर्ण मन्दिर श्वेत मर्मर का बना था। मन्दिर में बहुत पार्श्वद, पुजारी, देवदासी और वेदपाठी ब्राह्मण रहते थे। सौ फुट ऊँची शिव मूर्ति ताण्डव मुद्रा में थी। वह ठोस ताम्बे की थी। विशाल नन्दी की मूर्ति, काले कसौटी के पत्थर की थी। पाशुपत आम्नाय में मन्दिर का महात्म्य अधिक था, वहाँ देश-देश के यात्रियों का तांता-सा लगा रहता था।

इस बार काशीराज ने यज्ञ की घोषणा की थी, इससे देश-देश के भावुक जन, बुलाए और बिना बुलाए काशी में आ जुटे थे। अनेक नरपतियों को आमन्त्रित किया गया था। और अनेक सेठ साहूकार अपनी बहूमूल्य वस्तुओं को बेचने के लिये आ जुटे थे।

मन्दिर में भव्य समारोह था। सहस्रों घृत-दीप जल रहे थे। महा-घण्ट के घोष से कानों के पर्दे फटे जाते थे। जनरव भी उसी में मिल गया था। वीणा, मृदंग आदि वाद्य बज रहे थे।

मन्दिर के प्रधान पुजारी का नाम सिद्धेश्वर था—वह कद में ठिगना, कृष्ण-काय, अधेड़ वय का पुरुष था। उसका मुँह खिचड़ी दाढ़ी से ढका था। शरीर बलिष्ट था, वह सदैव भगवा कौशेय धारण किए रहता था। वह आचार्य वज्रसिद्ध और काशीराज के साथ स्वर्ण सिंहासन पर बैठा था। बड़े-बड़े पात्रों में धूप जल रही थी, जिससे सारा ही वातावरण

सुरभित हो रहा था। जड़ाऊ मशालों के प्रकाश में मन्दिर के खम्भों पर जड़े हुए रत्नमणि चमक रहे थे।

पूजा-विधि प्रारम्भ हुई। सोलह पुजारियों ने पूजा आरती लिए, मन्त्र पाठ करते हुए प्रवेश किया। सब नंगे पैर, नंगे सिर, नंगे शरीर, कमर में पीताम्बर, कन्धे पर श्वेत जनेऊ, सिर पर बड़ी चोटी। चार के हाथ में जगमगाते आरती के थाल थे। चार के हाथ में गङ्गाजल के स्वर्ण पात्र थे। चार के हाथ में धूप दीप और चार के हाथ में नाना विधि फूलों से भरे थाल थे। आक-धतूरा और बिल्वपत्र भी उनमें थे।

उच्च स्वर में मन्त्र पाठ होने लगा—

कुछ काल तक रुद्र मन्त्र पाठ उच्च नाद के साथ हुआ। सैकड़ों कण्ठ स्वरों ने मिलकर पाठ को गौरव दिया। मन्त्र पाठ समाप्त होते ही देवदासियों ने नृत्य प्रारम्भ किया। सब रङ्ग-बिरङ्गी पोशाक पहने थीं। सिर पर मोतियों की माँग, कान में जड़ाऊ त्राटक, छाती पर जड़ाऊ हार, कटि प्रदेश पर रक्त पट्ट, पीठ पर लहराता हुआ उत्तरीय। हाथ में डमरू और झाँझ।

सैकड़ों देवदासियों के नृत्य से दर्शक विमुग्ध हो गए। आचार्य वज्रसिद्ध भी यह निषिद्ध दृश्य देख कर प्रसन्न हो रहे थे। एकाएक नृत्य रुक गया। सब नर्तिकाएँ दो विभागों में विभक्त हो गईं। मंजुघोषा धीरे-धीरे मंच पर आई। उसके सिर पर उत्कृष्ट जड़ाऊ मुकुट था। शरीर पर मोतियों का शृङ्गार था। अब केवल डमरू वादन होने लगा और मंजुघोषा ने ताण्डव नृत्य बिल्कुल शैव पद्धति पर करना प्रारम्भ किया। वातावरण एक विभिन्न कम्पन से भर गया। मंजुघोषा की नृत्य गति बढ़ती ही गई—वह तीव्र से तीव्रतर होती गई। उपस्थित समुदाय स्तब्ध रह गया। उस शोडषी बाला का भव्य रूप, अप्रतिम कला, दिव्य नृत्य, और उसका भावावेश इन सबने, उपस्थित जनों को भाव विमोहित कर दिया। नृत्य के अन्त में मंजुघोषा शिवमूर्ति के समक्ष

पृथ्वी में प्रणिपात करने को लेट गई। सिद्धेश्वर ने कहा—उठो मंजु, प्रसाद ग्रहण करो।

मञ्जु धीरे-धीरे उठी। उसने पुजारी से प्रसाद ग्रहण किया।

वज्रसिद्ध अब तक जड़ बैठे थे। अब वे बोल उठे—'यह लड़की साक्षात् वज्रतारा प्रतीत होती है। अरे धर्मानुज, यह देवी वज्रतारा का गन्धमाल्य इस दासी को देकर कृतार्थ कर।'

उन्होंने कण्ठ से लाल फूलों की एक माला उतार कर आगे बढ़ाई, परन्तु धर्मानुज भी उस देवदासी के रूपसागर में डूब रहा था। उसने आचार्य की बात नहीं सुनी। दुबारा पुकारने पर वह चौंक कर उठा—उसने माला दोनों हाथों में ले ली। मंजुघोषा के निकट पहुँच कर उसने काँपते हाथों से वह माला उस देवदासी के कण्ठ में डालना चाहा। पर मंजु ने अपने दोनों हाथ उसके लिए फैला दिए। दोनों के नेत्र मिले। दोनों बाहर की सुध भूल कर, वैसे के वैसे ही खड़े रह गए। दोनों के नेत्र चमक उठे, उनमें एक लाज व्याप गई, होठ काँपने लगे और शरीर कंटकित हो गया। दिवोदास ने साहस करके माला मंजु के कण्ठ में डाल दी। मञ्जु ठगी-सी खड़ी रह गई। दिवोदास अपने स्थान पर लौट आया। धीरे-धीरे मंजुघोषा अपने आवास को लौट गई। दिवोदास प्यासी आँखों से उसकी मनोहर मूर्ति को देखता रहा। महाराज, महा-आचार्य और पुजारी तथा सब लोग उठ कर अपने-अपने स्थानों को चल दिए। दिवोदास भी घायल पक्षी की भाँति लड़खड़ाता हुआ अपने आवास पर पहुँचा। उसकी भूख प्यास जाती रही।

—:०:—

मनोहर प्रभात

बड़ा मनोहर प्रभात था। शीतल मन्द समीर झकोरे ले रहा था। मंजुघोषा प्रातःकालीन पूजा के लिये संगिनी देवदासियों के साथ फूल तोड़ती तोड़ती कुछ गुनगुना रही थी। उसका हृदय आनन्द से उल्लसित था। कोई भीतर से उसके हृदय को गुदगुदा रहा था। एक सखी ने पास आकर कहा—

"बहुत खुश दीख पड़ती हो, कहो, कहीं लड्डू मिला है क्या?"

मंजु ने हँस कर कहा—"मिला तो तुम्हें क्या?"

"बहिन हमें भी हिस्सा दो।"

"वाह, बड़ी हिस्से वाली आईं।"

इतने में एक और आ जुटी। उसने कहा—"यह काहे का हिस्सा है बहिन!"

पहिली देवदासी ने कहा—

"अरे हाँ, क्या बहुत मीठा लगा बहिन?"

मंजु ने खीझ कर कहा—"जाओ, मैं तुमसे नहीं बोलती।"

सब ने कहा—"हाँ बहिन, यह उचित भी है। बोलने वाले नए जो पैदा हो गए।"

"तुम बहुत दुष्ट हो गई हो।"

"हमने तो केवल नजरें पहचानी थीं।"

"और हमने देन-लेन भी देखा था।"

"पर केवल आँखों आँखों ही में।"

"तब तो यह अपरिचिति परिचित हो जायगी और मैं चिरपरिचित सर्वथा अपरिचित हो जाऊँगा...!"

"नहीं ऐसी बात नहीं होगी..."—हँस पड़ा विश्वास !

"नहीं ! नहीं !! ठीक कह दिया बेटा ! बीबी पाने पर सभी लोग अपने दोस्तों को भुला देते हैं..."

खिलखिला कर हँस पड़ा विश्वास—"नहीं भाई नहीं, विश्वास ऐसा दोस्त नहीं है..."

"अच्छा देखूँगा। जहाँ बीबी बनकर घर में आई नहीं कि एक गिलास पानी को भी नहीं पूछोगे..."

"तुमसे तो पार पाना मुश्किल है !"—विश्वास पराजित स्वर में बोला—"तुमसे मैंने हार मान ली जगत ! अब जाने का वक्त हो रहा है। सामान सब पहुँच चुका है। सबसे विदा भी ले चुका हूँ। केवल तुम्हारे लिये रुका था..."

"वह तो मैं घुसते ही तुम्हारे गले में माला और माथे पर टीका देखकर समझ गया था..."

"अब तो मैं चला। मेरी अमानत तुम्हारे सुपुर्द है और..."—विश्वास ने अँगुली से अँगूठी उतारी—"यह उसे मेरी ओर से प्रथम भेंट की निशानी देकर कहना कि ईश्वर ने चाहा तो अगले साल शारदा-देवि के पुजारी से हम पति-पत्नी का सही रूप में आशीर्वाद लेंगे। पुजारी का आशीर्वाद सत्य कर दिखाऊँगा..."

"तसल्ली का यह सन्देश तो खूब सोच निकाला है..."

"जो भी हो..."—हँसकर कहा विश्वास ने—"उसे समझाते रहना ! जहाँ तक बन पड़ेगा मैं दो या डेढ़ माह में एक बार छुट्टी लेकर आ जाऊँगा तीन-चार दिन के लिये..."

"आये न बेटा बरबादी के रास्ते पर ! कहा था न मैंने कि

इश्क प्रगति में रोड़ा है। इ लेकर क्यों आओगे...रिकार्ड खराब करोगे...?"

"तब शकुन कैसे मिलेगी...?"

"अबे, जैसे सत्तर वैसे अस्सी..."—कहा जगत ने—"जैसे दो माह वैसे पूरी ड्यूटी...लड़ाई ज्यादा दिन नहीं चलने की। मुझे साफ आसार नजर आ रहे हैं कि ब्रिटेन के आगे कोई ठहर नहीं सकता। अंग्रेजों जैसी चालबाज और दूसरी कौम दुनिया के परदे पर नहीं है।"

"यहाँ तो एक-एक पल एक बरस-सा लग रहा है जगत! तुम पर बीते तो मालूम पड़े..."

हँस पड़ा जगत—"ज्यादा बातें न बनाओ! तुमसे ज्यादा दुनिया मैंने देखी है। चलो भी, वक्त हो रहा है...सैनिक को समय का पाबन्द होना चाहिये। लो मेरी भी बिदाई और शुभकामनाएँ..."

उठकर जगत विश्वास के गले मिला। उसकी पीठ थपथपाई।

"इसी तरह से निरन्तर प्रगति करते रहो। यश पैदा करो..."

विश्वास के नयन स्नेह से गीले हो उठे।

"जाओ, तुम्हारी अमानत सुरक्षित रहेगी। जल्दी ही खबर देना और कामयाब होकर लौटना..."

विश्वास 'मिलिट्री कार' में स्टेशन की ओर उड़ा चला जा रहा था पर लगता था, जैसे उसका हृदय पीछे छूट गया है। शरीर उसका कोई लिये जा रहा है पर प्राण यहीं रह गया है।

हृदय में थोड़ा सन्तोष था कि कम से कम शकुन को तो उसकी सूचना मिल गई है। अब वह कहीं नहीं जा सकती और न दुविधा में ही रहेगी! उसकी ओर से कुछ तो निश्चिन्त हो गया।

जाते ही वह एक पत्र उसके लिये जगत के पते पर लिखेगा और उस पत्र में वह अपने हृदय के समस्त भाव उँड़ेल देगा।

'मिलिट्री कार' स्टेशन पर उसे छोड़कर चली गई।

सारा सामान पहिले आ चुका था। 'मिलिट्री आफीसर्स' का एक 'स्पेशल कम्पार्टमेंट' उस 'ट्रेन' में लगा चला आ रहा था।

'प्लेटफार्म' पर भीड़ और चहल-पहल काफी थी। विश्वास ने सिगरेट जलाई और कश लेता हुआ वह टहलने लगा! 'ट्रेन' आने में कुछ देर थी।

समीप ही एक युवक और युवती खड़े हुये हँस-हँस कर बातें कर रहे थे और ओठों पर मुस्कुराहट होने के बावजूद भी युवती के नयन गीले थे। सम्भवतः वह कोई जोड़ा था और प्रतीत हो रहा था कि युवती युवक को विदा देने आई है।

विश्वास के दिल में एक टीस-सी उठ खड़ी हुई। अगर आज शकुन उसके पास होती तो कितना अच्छा था...ठीक इस युवक की तरह उसे भी विदाई देने वह आती।

'ट्रेन' आती। वह बैठ जाता। जब ट्रेन चलती तब वह 'प्लेटफार्म' पर खड़ी-खड़ी, आँखों में आँसू लिये उसे देखती रहती। वह दरवाजे पर खड़ा रहता। 'ट्रेन' क्रमशः दूर होती जाती और वह अपना रूमाल हिलाती रहती...हिलाती रहती। 'ट्रेन' दूर बहुत दूर जब आँखों से ओझल हो जाती तो वह 'कम्पार्टमेंट' में बैठ मीठे दर्द में डूब जाता।

सिगरेट फेंक दी विश्वास ने!

'ट्रेन' आ रही थी। यात्री उठ खड़े हुये थे। देखते-देखते प्लेटफार्म पर शोरगुल बढ़ गया।

ट्रेन आ गयी तो विश्वास अपने 'कम्पार्टमेंट' की ओर बढ़ गया। और भी 'आफीसर्स' उसमें थे। सामान रखवाकर विश्वास कम्पार्टमेन्ट के दरवाजे पर आ खड़ा हुआ।

पास ही के डिब्बे में ठसाठस भीड़ थी और लोग खिड़कियों से अपना सामान निकाल रहे थे, डाल रहे थे और कई कूद कर घुस रहे थे। कोलाहल मचा हुआ था।

विश्वास उनकी ही ओर देख रहा था। डोलचियाँ, बिस्तर, सूटकेस, सन्दूक, पलङ्ग, साइकिल, बड़े-बड़े बर्तन उतारे जा रहे थे।

द्वार पर भी रेलमपेल मची थी और विश्वास ने देखा—बड़ी मुश्किल से एक मुस्लिम युवक उसमें से उतरा। उसके माथे पर सेहरा झूल रहा था। वह दूल्हा था।

गाड़ी छूटने की घण्टी बज उठी।

"दुलहिन को उतारो भाई..."—उनमें से एक चिल्ला उठा, पर उसकी पुकार कौन सुनने वाला था। सब सामान उतारने में लगे थे। दूल्हा एक ओर चुप खड़ा सब देख रहा था। वह भी दूल्हा बनने के स्वप्न में डूब गया।

'गार्ड' ने हरी झण्डी दिखलाई। सीटी बजी। 'ट्रेन' हिली। विश्वास दरवाजे पर ही खड़ा था। हटा नहीं था।

"अरे...अरे...कोई दुलहिन को उतारो..."—कई स्वर एक साथ गूँज उठा।

गाड़ी धीरे-धीरे सरक चली।

विश्वास ने दरवाजे से देखा। बुरके में लिपटी एक यवनी डिब्बे के दरवाजे तक आयी तो किसी ने बुरके से निकला हुआ उसका गोरा हाथ पकड़कर नीचे खींच लिया।

और हाथ खींचते ही गोरी दुलहिन प्लेटफार्म के नीचे ठीक चलती गाड़ी की पटरी पर गिर गई।

विश्वास का कलेजा मुँह को आ गया!

बड़े जोर का हल्ला 'प्लेटफार्म' पर हुआ।

'ट्रेन' के पहिये चलते जा रहे थे। शोरोगुल सुन ट्रेन रुकी सही पर कुछ बढ़कर!

'ट्रेन' के रुकते ही बहुत से लोग कूद पड़े।

"वह रही। हाय अल्ला! खून!! कट गई..."

गार्ड दौड़ा। सिपाही दौड़े। स्टेशन मास्टर दौड़ा।

'ट्रेन' पीछे की गई और जब पहिये हटे तो लोगों ने देखा, उस दुलहिन के दोनों पैर कमर के पास से कटकर धड़ से झूल रहे थे।

"शकीना..."—दूल्हा चीत्कार कर उठा।

पर उसने तो सदा के लिये अपनी आँखें बन्द कर ली थीं। पुलिस ने लाश कब्जे में कर ली।

"बुरका और घूँघट ने जाने कितनों की जान ली है..." विश्वास मन ही मन बुदबुदाया—

"सबको सामान की फिक्र थी...हाड़-माँस के पुतले की नहीं। वाह रे आज का इन्सान! कितना लोभी हो गया है यह कि पैसे के आगे जीवन का मोह छोड़ बैठता है..."

'ट्रेन' के पहियों की सफाई की गई और उस गमगीन वातावरण में 'ट्रेन' पुनः चली।

विश्वास अपने 'कम्पार्टमेंट' में जाकर बैठ गया। मन में विचार उठ रहे थे कि समाज के रीति-रिवाज कभी-कभी कितने घातक हो उठते हैं! मिलकर भी लोग बिछुड़ जाते हैं।

"यू आर मिस्टर विश्वास..."

विश्वास ने देखा एक 'आफीसर' उसके सम्मुख खड़ा है।

"यस सर...!"

"आई एम कमाडेंट इनचार्ज एयर फोर्स वन...लेटमी इन्ट्रोड्यूस यू माई सेल्फ..."

"ओह"—विश्वास उठ खड़ा हुआ—"ओ गुड टू मीट विथ यू सर..."—और उसने हाथ मिलाया।

"नाऊ कम...दिस इज मिस रोज..."—आफीसर ने गुलाब सी एक युवती की ओर इशारा किया जो पश्चिमी वेश-भूषा में बिस्तर पर अर्ध नग्न अवस्था में लेटी थी—"बाई गर्वमेंट फार अवर एन्टर-टेन्मेंट..."

विश्वास ने गौर से मिस रोज को देखा।

रोज मुस्कुरा उठी ! उसके नयन कटीले थे। उसने तिरछी निगाहों से विश्वास की ओर इस तरह देखा कि उसका रोम-रोम काँप उठा।

८

भयानक ठेस लग चुकी थी शकुन के अन्तर में। सब कुछ उसे फीका-फीका सा लगने लगा था। उसे प्रतीत हो रहा था जैसे जीवन का रस-भाग सूख गया है। उस रस-भाग की अब तनिक भी लालसा उसके अन्तर में नहीं रह गयी है।

उसकी सुन्दर मुखाकृति पीतवर्ण धारण करने लगी। वातावरण आलस्य से ओत-प्रोत जान पड़ता। तुत्तुल के लिए वह खाना पका देती। उसके खाने से जो बच जाता उसे ही खाकर वह चारपाई पर पड़ रहती !

प्रयत्न करने पर भी उस युवक की स्मृति वह हृदय से नहीं निकाल पाती थी। रह-रहकर उसके बारे में सोचने लग जाती! बार-बार उसका अन्तर कह रहा था, विश्वास दिला रहा था कि देवि-मन्दिर में उसकी ओर उठती हुई वे आँखें धोखा नहीं दे सकतीं...।

हो सकता है कि कोई गलतफहमी हो गई हो, पर इतनी बड़ी गलती कैसे हो सकती है...? अवश्य ही वे जमुना से मिलें होंगे तभी तो इतनी बात हो गई कि अपनी तस्वीरें ही उसके पास भेज दीं और आज पुनः उनके मित्र जमुना से मिलने आने वाले हैं।

तो क्या उन्होंने उसे एकदम से भुला दिया है। पुरुष क्या इतना कठोर हो सकता है कि नारी के प्यार को इस तरह ठुकरा दे!

ज्यों-ज्यों साँझ घिरती आ रही थी त्यों-त्यों शकुन की बेचैनी बढ़ती जा रही थी।

विचार आया हृदय में कि वह भी सरोवर-तीरे जावे और उन दोनों की बातें सुने...शायद कुछ रहस्य का पता लग जाय और सम्भव है कि उसका खोया हुआ साम्राज्य उसे मिल जाय...।

तुत्तल कहीं खेलने गया था। अपने उस प्यारे मासूम भाई की ओर से भी वह इतनी उदासीन हो उठी थी कि उसकी उसे कोई फिकर तक न थी।

बेचारा पूछता—"दीदी, तुम क्या सोचा करती हो...?"

शकुन उसे डाँटकर खेलने के लिये भगा देती थी। वह रुआँसा होकर भाग जाता था।

शकुन हृदय के आवेग को न सँभाल सकी और धीरे से द्वार बन्द कर तालाब की ओर चल पड़ी। तुत्तल वहीं घाट के ऊपर धूल में लड़कों के साथ खेल रहा था। औरतें नीचे पानी में अपना कार्य कर रही थीं। एकान्त आम्रवृक्ष के सहारे जमुना खड़ी थी।

शकुन धीरे-धीरे उसके पास बढ़ गई।

बड़े वक्त से पहुँची थी। जगत भी सामने से मुस्कुराता हुआ चला आ रहा था! जमुना ने शरमाकर निगाहें नीची कर लीं।

जगत पास आया।

"वे तो कल चले गये..."—जगत कह उठा—"और एक चिट्ठी आई है। शायद राह में किसी स्टेशन से छोड़ी है..."

शकुन की साँस रुक गई। दूसरे आम्रवृक्ष की आड़ में वह जमुना और जगत के पास खड़ी थी।

"यह रही चिट्ठी...पढ़ लेना..."

"प...र...पर..."—जमुना का स्वर लड़खड़ाया।

"क्या? पढ़ना नहीं आता...?"

"नहीं!"—जमुना ने धीरे से उत्तर दिया।

जगत हँस पड़ा—"लाओ, मैं पढ़ दूँ...जवाब जो देना हो, बता देना। मैं अपनी चिट्ठी के साथ लिखकर भेज दूँगा..."

जगत ने लिफाफा खोला।

पढ़ा—"मेरी शकुन रानी..."

प्रथम शब्द सुनते ही शकुन गिरते-गिरते बची, पर उसने अपने-आपको सँभाल लिया। उसके हृदय में, उस पत्र में अपने नाम का सम्बोधन सुन इतने जोर का आवेग उठा कि वह चीख उठे। बता दे कि यह शकुन नहीं जमुना है। शकुन तो मैं हूँ। पर शकुन के होंठ ही न खुल सके। आँखें बरस पड़ीं।

जगत पढ़ता जा रहा था। जमुना स्तब्ध खड़ी सुनती जा रही थी।

"मेरी रानी, मैं तुमसे बिना मिले जा रहा हूँ। माफ करना, पर विश्वास रखो, तुम्हारा यह विश्वास जिन्दगी भर के लिये केवल तुम्हारा ही है...तुम्हारा ही रहेगा। हर क्षण तुम्हारी प्यारी सूरत मेरी आँखों में समाई रहेगी। एक पल को भी मैं तुम्हें भुला नहीं सकता। मैं बेकरारी से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ जब देवि-मन्दिर के पुजारी का वचन सत्य होगा। एक बार हम फिर उसी मन्दिर में चलकर वही आशीर्वाद सच्चे रूप में ग्रहण करेंगे। मेरा हृदय कहता है कि अगले मेले तक हम एक दूसरे को पा लेंगे। तारोंभरी रात है। ट्रेन बढ़ती जा रही है। मैं लड़ाई के मैदान में जा रहा हूँ हृदय में तुम्हारी तस्वीर सजाये हुये। मैं आज की ही तरह तारोंभरी रात की प्रतीक्षा में रहूँगा जब तुम मेरे इतने समीप होगी कि हर क्षण मैं तुम्हें देखता रहूँ—सौन्दर्य पान करता रहूँ..."

शकुन आगे सुन न सकी। उसका मस्तिष्क चकरा गया। पत्र की एक-एक पंक्ति पुकार-पुकार कर उसके कानों में कह उठी कि वह शकुन का है—केवल शकुन का! उनका मित्र धोखे में जमुना को शकुन समझ बैठा है। वह केवल उसका है, उसका ही रहेगा।

पर यह जमुना कैसी है, जो चुप-चुप खड़ी सब सुन रही है और जरा भी प्रतिरोध नहीं कर रही है कि उसका नाम शकुन नहीं है। वह कह क्यों नहीं देती कि उसका नाम जमुना है, शकुन नहीं है!

"समझ गईं...?"

"........."

"क्या जवाब लिख भेजूँ...?"

"तुम तो बोलती भी नहीं। भाई, इतनी शरम अच्छी नहीं लगती। बोलो, क्या जवाब लिख भेजूँ—?"

इस बार जमुना ने साहस किया।

धीरे से बोली—"जो आप ठीक समझें..."

"मैं तुम्हारी तरफ से ही लिख दूँगा..."

जमुना शरमा गई।

"ठीक है न...?"

"फिर मुझसे क्या पूछते हैं...?"—जमुना के होंठ मुस्कुरा पड़े।

जगत हँस पड़ा—"समझ गया मैं। लिख भेजूँगा और यह लो उसने एक निशानी भेजी है..."

शकुन ने आड़ से देखा कि जमुना की अँगुली उठा जगत ने अँगूठी पहिना दी है। शकुन को लगा जैसे किसी ने उसके पेट की अँतड़ियाँ बाहर निकाल कर फेंक दी हों।

"इसे उतारना नहीं। याद रखना..."—और जगत प्यार से उसका सिर थपथपा, खुश रहने को बोलकर वहाँ से चला गया।

जमुना खड़ी-खड़ी उस अँगूठी को देखती रही। चेहरे पर भय के चिन्ह उभर आये थे। वह समझ चुकी थी कि धोखे का यह नाटक चल नहीं सकेगा। शकुन से मिलने आकर मिल गया मुझसे और मुझी को शकुन समझ रहा है अब तक।

जमुना के हृदय में अनदेखे ही प्रीत हो गई थी।

आशा और निराशा के बीच झूलती हुई वह लौट पड़ी। हँसी भी आती थी, रोना भी आ रहा था। एक दिल हँसने को और एक दिल रोने को होता। भेद खुलने पर क्या वह उसे प्यार कर सकेंगे?

जमुना जाने के लिये मुड़ी थी कि शकुन को खड़ी देख उसका हृदय धक् से कर उठा।

शकुन ने जमुना की ओर देखा। जमुना ने पूछ लिया—

"तुम यहीं खड़ी थी शकुन...?"

"हाँ।"

"तुमने सब सुना...?"

"हाँ, सब कुछ सुना। तुम्हारा अभिनय प्रशंसनीय है।"

जमुना आँखें फाड़कर रह गई।

"तुमने यह अच्छा नहीं किया जमुना...?"

जमुना को काटो तो खून नहीं।

"तुम्हें कम से कम बता देना चाहिये था कि तुम जमुना हो। किसी की दुनिया इस तरह से उजाड़ देने में भला क्या तुम सुख पा सकोगी जमुना...?"

"बहिन..."

"मैं तो तड़प-तड़प कर उनके लिये मरी जा रही हूँ। ओह! उस दिन जब मैंने उनकी तस्वीरें तुम्हारे पास देखीं तो मेरा दिल फट गया था। जी में आया कि जहर खाकर मर जाऊँ। पर मन कहता था कि वे मेरे हैं...मेरे रहेंगे और यह आज प्रकट हो ही गया।

"........"

"मेरा मन अनायास मुझे यहाँ तक खींच लाया और मुझे असलियत का पता चल गया। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिये था जमुना बहिन... अब कल जब वे आवें तो साफ-साफ कह देना। मैं घाट पर रहूँगी। अँगुली से मेरी ओर इशारा कर देना..."

"गलतफहमी ही हो गई है..."—धीरे से बोली जमुना—"जहाँ तक मेरा ख्याल है कि तुत्तल से उन्होंने अपनी दीदी को बुलाने को कहा होगा, पर मेरा भैया भी वहीं खेल रहा था, उसने मुझे समझा और ले गया..."

बात तो हँसी की थी पर ठेस लगे हुये दिल में हँसी कहाँ? शकुन हँस न सकी। उसकी किस्मत ही ऐसी है कि सब कुछ रहते हुये भी वह कुछ भी पा नहीं रही थी।

"जो भी हो..."—गम्भीरता से कहा शकुन ने—"तुम उनसे सब बता देना!"

"पर बहिन..."—जमुना का स्वर रुँधा-सा गया।

"क्या तुम मेरा इतना-सा त्याग नहीं कर सकती जमुना...?"

"शकुन..."—जमुना कह उठी करुण स्वर में—"तुम एक औरत हो और एक औरत का दिल समझ सकती हो। मुझे उनसे मुहब्बत हो गई है।"

"जमुना..."—शकुन के सिर पर आकाश फट पड़ा।

"हाँ बहिन...मुझे उनसे मुहब्बत हो गई है। मैं आँचल पसार-कर एक पड़ोसी के नाते तुमसे उसकी भीख माँगती हूँ, शकुन बहिन..."

"यह तुम क्या कह रही हो...?"

"मैं बहुत ही दुःखदर्द की मारी हूँ शकुन! तुमसे कुछ छिपा नहीं है। अब मेरी बसती हुई दुनिया में आग न लगने दो। मैं उनका सहारा पाकर संकटों से मुक्ति पा लूँगी शकुन्तला बहिन..."—जमुना रो उठी।

"पर जब उन्हें रहस्य मालूम हो जायगा तो...?"

"अगर मेरी मुहब्बत सच्ची होगी तो मैं उन्हें पा जाऊँगी...सच्ची मुहब्बत से क्या नहीं मिल सकता? मैं उन्हें मना लूँगी बहिन..."

शकुन चित्रवत् खड़ी रह गई।

"मुझे देने से इन्कार न करना बहिन! मेरी दुनियाँ बसा दोगी तो जनम-जनम मैं तुम्हारे गुण गाऊँगी...बोलो...बोलो..."

"........."

"तुम अपनी माँग का सिंदूर मेरी माँग में भर जाने दो ताकि तुम्हारी याद, तुम्हारा त्याग अजर-अमर हो जाय...एक औरत, औरत का दिल तोड़ नहीं सकती। और तुम तो बहुत अच्छी हो शकुन्तला...!"

"........."

"कह दो शकुन कि हाँ दे दिया..."

"........."

"बोलो..."

"इतनी बड़ी चीज मुझसे न माँगो बहिन..."—शकुन्तला फूट-फूटकर रो उठी।

"तो इन्कार करने से पहिले बहिन मुझे इसी तालाब में ढकेल दो। मैं मर जाऊँ..."

"........."

"अच्छा! न ढकेलो! मैं खुद मर जाऊँगी! इस जनम में न पा सकी उन्हें तो क्या हुआ...? अगले जनम में अगर मेरी प्रीत में सचाई होगी तो जरूर पा जाऊँगी..."

और जमुना तालाब की ओर बढ़ने लगी।

"जमुना..."

पर न रुकी जमुना। वह तेजी से तालाब की ओर लपकती जा रही थी।

"जमुना..."

शकुन ने जमुना को ठीक तालाब किनारे पहुँचते ही उसे पकड़कर पीछे खींच लिया।

"यह क्या करती हो बहिन...?"

".........!"

"चलो। लौट चलो..."—शकुन ने उसकी आँखों के आँसू पोंछे—"पुरुष भले ही औरत का दिल तोड़ दे, पर औरत औरत का दिल नहीं तोड़ेगी!"

"बहिन..."

"जाओ! मैंने उनको तुम्हें दे दिया..."

और दोनों आपस में लिपट फूट-फूटकर रो उठीं।

"जनम-जनम तुम्हारा अहसान मानूँगी शकुन बहिन..."

शकुन के बहते आँसू एकाएक रुक गये। मुस्कुराती हुई वह बोली—

"एक शर्त पर मैं उन्हें दे सकती हूँ..."

"बताओ, क्या है वह शर्त?"

"हमेशा उन्हें खुश रखना और उनकी खुशी के लिये अपनी जान तक दे देने को तैयार रहना..."

"ऐसा ही होगा! मैं वायदा करती हूँ...ऐसा ही होगा बहिन..."

"मेरा आशीर्वाद है, तुम सदा सुखी रहो और उन्हें पाने में सफलता प्राप्त करो। तुम्हारा सुहाग जब तक गङ्गा में पानी है अडिग रहे..."

और शकुन उमड़ते आँसुओं के वेग को रोक, मुँह फेर तेजी से लौट आई।

आकर चारपाई पर पड़ रही और खूब रोई ! इतनी रोई कि पूरा सिरहाना आँसुओं से तरबतर हो गया।

एक जरा-सी गलती का कितना बड़ा मूल्य उसे चुकाना पड़ रहा है। रोई और खूब रोई। आँसू जब सूख गये तो सिसकियाँ भरती रही।

तारे आसमान में छिटक आये।

शकुन सिसकती रही।

तुत्तल की जरा-सी गलती ने उसकी जिन्दगी ही तबाह कर दी।

तुत्तल आया तो वह अपना विवेक खो बैठी।

उसने खूब पीटा उसे। जीवन में पहिली बार उसने अपने भाई पर हाथ छोड़ा था !

तुत्तल रोता रहा चिल्ला-चिल्लाकर—

"हमने कुछ नहीं किया है, दीदी...मुझे मत मारो...!"

जब उसका विवेक जागा तो शकुन्तला ने उसे प्यार से चिपटा लिया और सिसक उठी।

उसे चारपाई पर लिटा उसे थपकियाँ देने लगी। जब वह सो गया तो वह भी सोने का उपक्रम करने लगी।

तभी रहमत आ गया भीतर ! निस्संकोच बैठते हुए बोला—

"अरे, आज चेहरा इतना उतरा क्यों है, शकुन ! ऐसा लग रहा है जैसे खूब रोई हो...?"

"माँ की याद आ गयी थी..."—शकुन ने बहाना बना दिया।

"उनकी याद करना अब बेकार है शकुन..."—बोला रहमत—"जाने वाला कभी लौटकर नहीं आता ! इस तरह से तो तुम अपना शरीर ही सुखा डालोगी..."

"........."

"अब सोच-विचार, रोना-धोना बिलकुल छोड़ दो..."—बोला रहमत—"अब तुम एक नई जिन्दगी में, एक नई दुनियाँ में जा रही हो..."

"कब चल रहे हो...?"

"परसों!"

"जितनी जल्दी हो सके चलो...मैं जल्दी ही यहाँ से चली जाना चाहती हूँ, हमेशा के लिये, सदा के लिये, कभी न लौटकर आने के लिये..."

रहमत खुश हो गया—"तब तो कल ही चलो..."

"हाँ! कल ही!"—कह उठी शकुन!

"अब तो तुम्हें समझ आ गई है शकुन..."—बोला रहमत—"मैं तो सोचता था कि शायद तुम आनाकानी करो..."

"नहीं! ऐसा नहीं हो सकता...मैं चलूँगी और अवश्य चलूँगी..."

"तब ठीक है। रात में ही सब तैयारी कर लो। भोर की गाड़ी से निकल चलेंगे..."

"सामान सब तैयार है...!"

"है ही क्या सामान मेरे पास? सब ठीक है।"

"मैं तड़के ही तुम्हारे पास आ जाऊँगा..."

और रहमत चला गया।

नाम पर मद्यपान किया जाता है। इस हिन्दूधर्म में स्त्रियों और मर्दों पर भी, उच्च जाति वालों ने पूरे अंकुश रख उन्हें पराधीन बनाया है। अछूतों के प्रति तथा छोटी जाति के प्रति तो अन्यायाचरण का अन्त ही नहीं है। वे देवदासियाँ जो धर्म बन्धन में बँधी हैं, पाप का जीवन व्यतीत करती ।"

दिवोदास सुनकर और मंजुघोषा का स्मरण करके अधीर हो उठा। परन्तु आचार्य कहते गए—"पुत्र, आश्चर्य मत करो, बौद्धधर्म का जन्म इसी अधर्म के नाश के लिए है, किन्तु मूर्ख जनता को युक्ति से ही सीधा रास्ता बताया जा सकता है, उसी युक्ति को तुम छल कहते हो।"

"आचार्य आपका मतलब क्या है?"

"यही कि मुझपर विश्वास करो और देखो कि तुम्हें सूक्ष्म तत्त्व का ज्ञान किस भाँति प्राप्त होता है।"

"सूक्ष्मतत्त्व का या मिथ्या तत्त्व का?"

"अविनय मत करो पुत्र।"

"आप चाहते क्या हैं?"

"एक अच्छे काम में सहायता

"वह क्या है?"

"उस दिन उस देवदासी को तुमने देवी का गंधमाल्य दिया था न ।"

"फिर?"

"जानते हो वह कौन है?"

"आप कहिए।"

"वह लिच्छविराज कुमारी मञ्जुघोषा है।"

"तब फिर?"

"उसकी माता लिच्छवि पट्टराजमहिषी नृसिंह देव की पत्नी, छद्मवेश में यहाँ अपनी पुत्री के साथ, सुनयना नाम धारण करके देवदासियों में रहती थी। उसे सिद्धेश्वर ने अन्धकूप में डलवा दिया है।"

"किसलिए ?" दिवोदास ने उत्तेजित होकर कहा।

"लिच्छविराज का गुप्त रत्नागार का पता पूछने के लिए।"

"धिक्कार है इस लालच पर।"

"बच्चा, उसे बचाना होगा। परोपकार भिक्षु का पहिला धर्म ।"

"मुझे क्या करना होगा ?"

"आज रात को मेरा एक सन्देश लेकर बन्दी गृह में जाना होगा।"

"क्या छिप कर ?"

"हाँ।"

"नहीं।"

"सुन लड़के, सिद्धेश्वर उस बालिका पर भी पाप दृष्टि रखता है। उसकी रक्षा के लिए उसकी माता का उद्धार करना आवश्यक है।"

"मैं अभी उस पाखण्डी सिद्धेश्वर का सिर धड़ से पृथक् करता ।"

"किन्तु पुत्र, बलप्रयोग पशु करते हैं। फिर हमें अपने बलाबल का भी विचार करना है।"

"आपकी क्या योजना है ?"

"युक्ति।"

"कहिए।"

"कर सकोगे ?"

"अवश्य।"

वज्रसिद्ध ने एक गुप्त पत्र देकर कहा—

"पहले, इसे चुपचाप सुनयना को पहुँचा दो लेख सामग्री भी ले जाना—इसके उत्तर आने पर सब कुछ निर्भर है।"

"क्या निर्भर है ?"

"सुनयना का सन्देश पाकर लिच्छविर काशी पर अभियान करेगा।"

"समझ गया, किन्तु प्रहरी ?"

"लो, यह सबका मुँह बन्द कर देगी।" आचार्य ने मुहरों से भरी एक थैली दिवोदास के हाथों में पकड़ा दी। साथ ही एक तीक्ष्ण कटार भी।

"इसका क्या होगा?"

"आत्म-रक्षा के लिए।"

"ठीक है।"

यह सुनकर स्वस्थ हो आचार्य ने कहा—"तो पुत्र, तुम जाओ। तुम्हारा कल्याण हो।"

बाहर आकर दिवोदास ने देखा—सुखदास खड़ा है। उसने उसे देखकर प्रसन्न होकर कहा—सुना?

"सुना।"

"यह देखो, उसने मुहरों की थैली दी है।"

"देखी, और वह छुरी भी देखी" सुखदास ने हँस दिया।

"मतलब समझे?"

"पहिले ही से समझे बैठा हूँ। तुम चिन्ता न करो, चलो मेरे साथ।" दोनों एक ओर को चल दिए।

-:०:-

राजा का साला

उन दिनों राजा के सालों का भी बहुत महत्त्व था। विलासी राजा लोग नीच-ऊँच, जात-पात का बिना विचार किए सब जाति की लड़कियों को अपनी रानी बना लेते थे। विवाह करके और बिना विवाह के भी। आर्यों के धर्म में पुरानी मर्यादा चली आई है कि उच्च जाति के लोग नीच जाति की लड़की से विवाह कर सकते थे। यह मर्यादा अन्य जाति वालों ने इस काल में बहुत कुछ त्याग दी थी और वे अपनी ही जाति में विवाह करने लगे थे। पर राजा अभी तक जात-पात की परवाह न करते थे। छोटी जाति की सुन्दरी लड़कियों को खोज-खोजकर अपनी अङ्क-शायिनी बनाते थे। बहुत लोग अपना मतलब साधने के लिए अपनी लड़कियाँ घूस दे देकर राजा के रङ्ग महल में भेजते थे। खास कर प्रधान मन्त्री की लड़की तो राजा की एक रानी बनती ही थी, जो उसके लिए चतुर जासूस और आलोचक का काम देती थी। इस प्रथा का एक परिणाम यह होता था—कि राजा के सालों की एक फौज तैयार हो जाती थी। नीच जाति के दुश्चरित्र लोग किसी भी ऐसी लड़की से सम्बन्ध जोड़ कर—जो किसी भी रूप में रङ्ग-महल को राजा की अङ्कशायिनी हो चुकी हो—उसके भाई बन जाते और अपने में बड़ी अकड़ से राजा का साला घोषित करते थे। इन राजा के सालों की कहीं कोई दाद फर्याद न थी। ये चाहे जिस भले आदमी के घर में घुस जाते, उसकी कोई भी वस्तु उठा ले जाते, हाट-बाजार

से दूकानदारों का माल उठाकर चम्पत बनते। इन पर कोई मामला मुकदमा नहीं चल सकता था। मैं राजा का साला, इतना ही कह देने भर मे न्यायालय के न्यायाधीश भी उनके लिये कुर्सी छोड़ देते थे। बहुधा इन सालों का प्रवेश राजदर्बार में हो जाता था। और योग्यता की चिन्ता न करके इन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद मिल जाते थे। जहाँ बैठकर ये लोग अन्धेरगर्दियाँ किया करते थे। ऐसा ही वह सामन्ती काल था, जब बारहवीं शताब्दी समाप्त हो रही थी।

काशी के बाजार में काशीराज का साला शम्भुदेव मुसाहिबों सहित नगर भ्रमण को निकला। हाट-बाजार सुनसान था। दूकानें बन्द थीं। पहर रात बीत चुकी थी। सड़कों पर धुँधला प्रकाश छा रहा था। राजा का यह साला नगर कोटपाल भी था।

चलते-चलते उसने मुसाहिबों से कहा—खेद है कि कामदेव के बाणों से घायल होकर रात दिन सुरा-सुन्दरियों में मन फँस जाने से नगर का कुछ हाल-चाल महीनों से नहीं मिल रहा है।

मुसाहिब ने हाथ बाँध कर कहा—"धन-धर्म-मूर्ति, आपको नगर की इतनी चिन्ता है।"

शम्भुनाथ ने कपार पर आँखें चढ़ाकर कहा—"नगर की चिन्ता मुझे न होगी तो क्या राजा को होगी। अरे, आखिर नगर कोटपाल मैं हूँ या राजा?"

सब मुसाहिबों ने हाथ बाँधकर कहा—"हाँ, महाराज हाँ। आपही नगर कोटपाल हैं धर्मावतार।"

"तब हमें ही राजा समझो। राजा के बाद बस..." :उसने एक विशेष प्रकार का संकेत किया और हँस दिया। सब मुसाहिबों ने बिना आपत्ति कोटपाल के मत में सहमति दे दी। इस पर प्रसन्न होकर शम्भुनाथ ने कहा—"तब मुझे नगर की बस्ती की चिन्ता तो रखनी ही चाहिये। अरे चर मिथ्यानन्द, नगर का हाल-चाल कह।"

मिथ्यानन्द ने हाथ बाँधकर विनयावनत हो कहा—जैसी आज्ञा महाराज, परन्तु अभयदान मिले तो सत्य-सत्य कहूँ।

"कह, सत्य-सत्य कह। तुझे हमने अभय दान दिया। हम नगर कोटपाल हैं कि नहीं।"

"हैं, महाराज। आप ही नगर कोटपाल हैं।"

"तब कह, डर मत।"

"सुनिए महाराज! नगर में बड़ा गड़बड़झाला फैला हुआ है। वेश्यायें और उनके अनुचर भूखों मर रहे हैं। लोग अपनी-अपनी सड़ी-गली धर्म-पत्नियों से ही सन्तोष करने लगे हैं। धुनियाँ-जुलाहे-चमार खुलकर मद्य पीते हैं, कोई कुछ नहीं कहता, पर ब्राह्मण को सब टोकते हैं। मद्य की बिक्री बहुत कम हो गई है, लोग रात भर जागते रहते हैं, चोर बेचारों की घात नहीं लगती। वे घर से निकले—कि फँसे। सड़कों पर रात भर रोशनी रहती है। भले घर की बहू-बेटियाँ अब छिपकर अभिसार को जाँय तो कैसे? और महाराज, अब तो ब्राह्मण भी परिश्रम करने लगे।"

चर की यह सूचना सुनकर नगर कोटपाल को बड़ा क्रोध आया। उसने कहा—"समझा-समझा, बहुत दिन से हमने जो नगर के प्रबन्ध पर ध्यान नहीं दिया, इसी से ऐसा हो रहा है। मैं सबको कठोर दण्ड दूँगा।" सब मुसाहिबों ने हाथ बाँधकर कहा—"धन्य हैं धर्ममूर्ति, आप साक्षात् न्यायमूर्ति हैं।"

कोटपाल ने उपाध्यक्ष कुमतिचन्द्र की ओर मुँह करके कहा—"तुम क्या कहते हो कुमतिचन्द्र?"

कुमतिचन्द्र ने हाथ बाँधकर कहा—"श्रीमान् का कहना बिल्कुल ठीक है।"

परन्तु कोटपाल ने क्रुद्ध स्वर में कहा—"प्रबन्ध करना होगा प्रबन्ध। सुना तुमने, नगर में बड़ा गड़बड़ हो रहा है।" कोटपाल की डाट खाने

के उपाध्यक्ष अभ्यस्त था। उसने कुछ भी विचलित न होकर कहा—
"हाँ महाराज हाँ।"

"तब करो प्रबन्ध।"

उपाध्यक्ष ने निर्विकार रूप से हाथ बाँधकर कहा—"जो आज्ञा महाराज। मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ।"

कोटपाल उपाध्यक्ष के वचन से प्रसन्न और सन्तुष्ट हो गया। "तुम्हें पुरस्कार दूँगा—कुमति, तुम मेरे सबसे अच्छे सहयोगी हो। परन्तु देखो—वह गोरख ब्राह्मण इधर ही आ रहा है।"

कोटपाल ने ब्राह्मण के निकट आने पर कहा—"प्रणाम ब्राह्मण देवता।"

गोरख आदर्श ब्राह्मण था। घुटा हुआ सिर और दाढ़ी-मूँछ, सिर के बीचोबीच मोटी चोटी। कण्ठ में जनेऊ। शीशे की भाँति दमकता शरीर, मोटी थल-थल तोंद। छोटी-छोटी आँखें, पीताम्बर कमर में बाँधे और शाल कन्धे पर डाले, चार शिष्यों सहित वह नगर चारण को निकला था। कोटपाल की ओर देख तथा उसके प्रणाम को कुछ अवहेलना से उपेक्षा करते हुए उसने कहा—"अहा, नगर कोटपाल हैं।" फिर अपने शिष्य की ओर देखकर कहा—"अरे कलहकूट, शीघ्र कोटपाल को आशीर्वाद दे।"

हकीकत यह थी कि कोटपाल जाति का शूद्र था। राजा का साला अवश्य था—कोटपाल भी था—पर था तो शूद्र। इसी से श्रोत्रिय ब्राह्मण उसे आशीर्वाद नहीं दे सकता था। श्रोत्रिय ब्राह्मण तो राजा ही को आशीर्वाद दे सकता है। इसी से उसने शिष्य को आशीर्वाद देने की आज्ञा दी।

शिष्य ने दूब जल में डुबो कर, कोटपाल के सिर पर मार्जन किया और आशीर्वाद दिया—

'शत्रु बढ़े भय रोग बढ़े, कलवार की हाट पै ठाठ जुड़े।

भड़ुए रण्डी रस रङ्ग करें, नर्भय तस्कर दिन रात फिरे ।'

आशीर्वाद ग्रहण कर कोटपाल प्रसन्न हो गया। उसने कहा—"आज किधर सवारी चली। आजकल तो महाराज यज्ञ कर रहे हैं, नगर में बड़ी चहल-पहल है। ब्रह्मणों की तो चाँदा ही चाँदी है।"

गोरख ने असन्तुष्ट होकर कहा—"पर इस बार राजा मुझे भूल गया है। उसने मुझे इस सम्मान से वञ्चित करके अच्छा नहीं किया।"

"अरे! ऐसा अनर्थ? तुम काशी के महोपाध्याय, श्रोत्रिय ब्राह्मण! और तुम्हें ही राजा ने भुला दिया।"

"तभी तो काशीराज का नाश होगा। कोटपाल, मैं उसे शाप दूँगा।"

कोटपाल हँस पड़ा। हँसकर उसने कहा—"शाप, केवल इतनी सी बात पर? पर मुझपर कृपा दृष्टि रखना देवता। और कभी इन चरणों की रज मेरे घर पर भी डालकर पवित्र कीजिए।" फिर उसने ब्राह्मण का कन्धा पकड़ कर कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"बहुत बढ़िया पुराना मद्य गौड़ देश से आया है।"

गोरख श्रोत्रिय ब्राह्मण प्रसन्न हो गया। उसने हँसकर कहा—"अच्छा, अच्छा, कभी देखा जायगा।"

परन्तु कोटपाल ने आग्रह करके कहा—"कभी क्यों, कल ही रहा। फिर कान के पास मुँह लगा कर कहा—हाँ उस सुन्दरी देवदासी का क्या रहा। क्या नाम था उसका?"

ब्राह्मण हँस पड़ा। उसने कहा—"उसे भूले नहीं कोटपाल, मालूम होता है—दिल में घर कर गई है। उसका नाम मंजुघोषा है।"

"वाह, क्या सुन्दर नाम है। हाँ तो मेरा काम कब होगा?"

"महाराज, सब काम समय पर ही होते हैं। जल्दी करना ठीक नहीं है।"

"फिर भी, कब तक आशा करूँ?"

इसी समय श्रेष्ठि जयमङ्गल ने आकर प्रथम ब्राह्मण को दण्डवत की फिर कोटपाल को अभिवादन किया और हँसकर कहा—"मेरे मित्र महाराज शम्भुपाल देव हैं, और मेरे मित्र गोरख महाराज भी हैं।"

गोरख ने मुँह बना कर कहा—"सावधान सेट्ठि, ब्राह्मण किसी का मित्र नहीं, वह भूदेव है, जगत्पूज्य है।"

जयमङ्गल ने हँसकर कहा—"ब्राह्मण देवता प्रणाम करता हूँ।"

गोरख ने शुष्क वाणी से शिष्य को सम्बोधन करके कहा—"दे रे आशीर्वाद।"

शिष्य ने घास के तिनके से, जलपात्र से जल लेकर सेठ के सिर पर छिड़क कर आशीर्वाद दिया।

कोटपाल का इस ओर ध्यान न था। उसने सेठ के निकट जाकर कहा—"कहो मित्र, कल तो तुम जुए में इतना रुपया हार गए पर चेहरे पर अभी भी मौज-बहार है।"

जयमङ्गल ने कहा—"वाह, रुपया पैसा हाथ का मैल है मित्र, उसके लिए सोच क्या। जब तक भोगा जाय, भोगिए।"

गोरख ब्राह्मण ने बीच में बात काटकर कहा—"इसमें क्या संदेह। संयम और धर्म के लिए तो सारी ही उम्र पड़ी है, जब इन्द्रियाँ थक जाँयगी तब वह काम भी कर लिया जायगा।"

कोटपाल ने जोर से हँसकर कहा—"बस धर्म की बात तो गोरख महाराज कहते हैं। बावन तोला पाव रत्ती। अच्छा, भाई हम जाते हैं। नगर का प्रबन्ध करना है। परन्तु कल का निमन्त्रण मत भूल जाना।"

"नहीं भूलूँगा कोटपाल महाराज।"

कोटपाल के चले जाने पर उसने होंठ बिचका कर कहा—"देखा तुमने सेट्ठि, कैसा नीच आदमी है। मूर्ख धन और अधिकार के घमण्ड में ब्राह्मण को निमन्त्रण का लोभ दिखाकर अपने नीच वंश को भूल रहा है। हम श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं। जानते हो सेट्ठि, इसकी जात क्या है?"

सेठ ने इस बात में रस लेकर कहा—"नहीं जानता। क्या जाति है भला?"

"साला चमार है कि जुलाहा, याद नहीं आ रहा है।" इसी समय सामने से चन्द्रावली को आते देखकर वह प्रसन्न हो गया। उसने सेठ के कन्धे को झकझोर कर कहा—"देखो सेट्ठि, बिना बादल के बिजली, पहिचानते हो?"

"कोई गणिका प्रतीत होती है।"

"अरे नहीं, चन्द्रावलि देवदासी है।"

सेट्ठि ने हँसकर आगे बढ़कर कहा—"अहा, चन्द्रावलि, अच्छी तो हो?"

चन्द्रावलि ने हँसकर नखरे से कहा—"आपकी बला से। आप तो एक बारगी ही अपने मित्रों को भूल गए।"

सेठ ने खीसे निपोर कर कहा—"वाह, ऐसा भी कहीं हो सकता है। यह मुख भी भला कहीं भुलाया जा सकता है।"

"आप से बातों में कौन जीत सकता है।"

चन्द्रावलि ने घातक कटाक्ष पात किया। सेठ ने अधिक रसिकता प्रकट करते हुए कहा—

"इस मुख को देखकर तो गूँगा भी बोल उठे।"

चन्द्रावलि ने हँसकर सेठ से कहा—"कहिए, अब कब श्रीमान् मेरे घर पधार रहे हैं।"

"कहो तो अभी..."

"अभी नहीं, कल।"

"अच्छा" सेठ ने हँसकर उत्तर दिया। चन्द्रावलि ने गोरख की ओर मुँह करके कहा—"आप भी ब्राह्मण हैं।"

गोरख खुश हो गया। उसने कहा—"सिर केवल ब्राह्मण है।"

चन्द्रवलि हास्य बखेरती हुई चली गई। गोर कुछ देर उसी

ओर देखता रहा। फिर उसने कहा—"बहुत सुन्दर है, क्यों सेट्ठि—क्या कहते हो।"

"है तो, परन्तु..."

"परन्तु क्या ?"

"कहने योग्य नहीं।"

"कहो, कहो, क्या किसी ने तुम्हारा मन हरण किया है ?"

"किया तो है।"

"वह कौन है ?"

"है कोई अद्वितीय बाला।"

"वह है कहाँ भला ?"

"मन्दिर में ही !"

"मन्दिर में ?"

जयमङ्गल ने आनन्द में विभोर होकर कहा—"है, एक दिन सन्ध्या समय मैं मन्दिर में गया था। आरती नहीं हुई थी। वहाँ सन्नाटा था। महाप्रभु भी नहीं आए थे। मैं भीतर चला गया। सहसा मुझे एक आहट सुनाई दी। देखा, एक फूल-सी सुकुमारी बैठी देवता का फूलों से श्रृङ्गार कर रही है। हम लोगों की आँखें चार हुईं। तभी से मेरे हृदय में वह बस गई। वाह, क्या सौन्दर्य था ! विधाता ने सुन्दरता के कण सारे विश्व से समेट कर उसे रचा होगा। उसकी आँखों में आँसू थे, और उसके ओठ फड़क रहे थे।"

"क्या तुमने उसका नाम पूछा था ?"

"जब मैंने उसके निकट जाकर पूछा—सुन्दरी, तेरा नाम क्या है, और तुझे क्या दुःख है, तो वह बिना उत्तर दिए चली गई। परन्तु मुझे उस मोहनी के नाम का पता चल गया था—वह मंजुघोषा थी।"

गोरख कुटिलतापूर्वक हँस दिया। उसने कहा—"समझा। जिसे देखो वही मंजुघोषा की रट लगा रहा है। सेट्ठि उसकी आशा छोड़ दो।"

"यह तो न होगा मित्र, प्राण रहते नहीं होगा। भले ही प्राण भी देना पड़े।"

"ओ हो, यहाँ तक? तब तो मामला गम्भीर है। खैर, तो मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।"

जयमङ्गल प्रसन्न हो गया। उसने मुहरों की एक छोटी-सी थैली ब्राह्मण के हाथ में थमाकर कहा—

"मैं तुम्हें मुँह माँगा द्रव्य दूँगा देवता।"

गोरख ने थैली अपनी टेंट में खोसते हुए हँसकर कहा—"तब आओ मन्दिर में।"

जयमङ्गल ने ब्राह्मण का हाथ पकड़ लिया। और दोनों आगे बढ़कर एक गली में घुस गए।

सारी ही बातें सुखदास ने छिपकर सुन ली थी। उसने समझ लिया कि अवश्य ही मंजुघोषा पर कोई नई विपत्ति आने वाली है। वह सावधानी से अपने को छिपाता हुआ उनके पीछे चला।

—:o:-

अँधेरी रात में

शयन-आरती हो रही थी। मन्दिर में बहुत से स्त्री पुरुष एकत्र थे। संगीत नृत्य हो रहा था। भक्त गण भाव-विभोर होकर नर्तिकाओं की रूप-माधुरी का मधुपान कर रहे थे। दिवोदास एक अँधेरे कोने में छिपा खड़ा था। वह सोच रहा था, शयन-विधि समाप्त होते ही मेरा कार्य सिद्ध होगा। कैसी दुःख की बात है कि इन पाखंडियों के लिए मुझे भी छल कपट करना पड़ रहा है! उसने देखा—दो अपरिचित पुरुष आकर उसके निकट ही छिपकर खड़े हो गये हैं। दिवोदास ने सोचा—ये लोग कौन हैं? और इस प्रकार छिपकर खड़े होने में इनकी क्या दुरभिसन्धि है। वह इतना सोच ही रहा था कि आगन्तुकों में से एक ने कहा—

"किन्तु मंजुघोषा तो यहाँ दिखाई नहीं दे रही है?"

मंजु का नाम सुनकर दिवोदास के कान खड़े हो गये। उसने सोचा—यह कोई नया षड्यन्त्र है। वह ध्यान से उनकी बातें सुनने लगा।

आगन्तुकों में एक गोरख ब्राह्मण था, दूसरा जयमङ्गल सेठ।

सेठ ने कहा—"क्या यह सच है कि महाप्रभु भी उस छोकरी पर मुग्ध हैं"। गोरख ने उसका हाथ दबा कर कहा—"चुप-चुप, महाप्रभु इधर ही आ रहे हैं।" दोनों अन्धकार से निकल कर बाहर प्रकाश में आ खड़े हुए। सिद्धेश्वर को देखकर दोनों ने प्रणाम किया। सिद्धेश्वर ने हँसकर आशीर्वाद देते हुए कहा—"आज नगर की चहल-पहल छोड़कर श्रेष्ठि इस समय यहाँ कैसे?"

"महाराज, क्या यहाँ सब कुछ नीरस ही है ?"

"जिसने कञ्चन कामिनी का स्वाद ले लिया, उसे देव प्रसाद में क्या स्वाद मिलेगा ?"

"गुरुदेव, जैसे बिना विरह के प्रेम का स्वाद नहीं मिलता, उसी प्रकार बिना विलास किए, शान्ति का अनुभव नहीं होता ।"

"यह तो तुम्हारी भावुकता है श्रेष्ठि, जो कामना के अग्निकुण्ड में ईंधन डालेंगे, उन्हें शान्ति कहाँ मिलेगी ?" उसने गोरख की ओर तीखी दृष्टि से देखा ।

जयमङ्गल ने कहा—"महाराज, विधाता ने भोगविलास के लिए जवानी और त्याग के लिए बुढ़ापा दिया है ।"

सिद्धेश्वर ने हँसकर कहा—"हो सकता है श्रेष्ठि, जबतक समय है भोग लो । फूल सूख जायगा । गन्ध हवा में मिल जायगी । जगत में दो ही मार्ग हैं । भोग और योग । तुम भोग के मार्ग पर हो, मैं योग के । अच्छा अब जाता हूँ—चिरञ्जीव रहो ।"

सिद्धेश्वर के जाने पर गोरख ने सिर उठाया । अबतक वह सिर नीचा किए खड़ा था । अब उसने कहा—ये साक्षात् कलियुग के अवतार हैं श्रेष्ठि ।"

जयमङ्गल ने हँसकर कहा—"मालूम तो यही होता है । परन्तु इनके तप और वैराग्य की तो बड़ी-बड़ी बातें सुनी हैं, वे क्या सब झूठी हैं ?"

"आओ देखो ।"

उसने संकेत से सेठ को पीछे आने को कहा । और एक पेचीदा तङ्ग गली में घुस गया । उन दोनों के पीछे दिवोदास भी छिपता हुआ चला । इसी समय सुखदास भी उससे आ मिला ।

एक कुञ्ज के निकट पहुँच कर सिद्धेश्वर ने पुकारा—

"माधव ।"

माधव ने सम्मुख आ प्रणाम किया । सिद्धेश्वर ने कहा—

अँधेरी रात में

शयन-आरती हो रही थी। मन्दिर में बहुत से स्त्री पुरुष एकत्र थे। संगीत नृत्य हो रहा था। भक्त गण भाव-विभोर होकर नर्तिकाओं की रूप-माधुरी का मधुपान कर रहे थे। दिवोदास एक अँधेरे कोने में छिपा खड़ा था। वह सोच रहा था, शयन-विधि समाप्त होते ही मेरा कार्य सिद्ध होगा। कैसी दुःख की बात है कि इन पाखंडियों के लिए मुझे भी छल कपट करना पड़ रहा है! उसने देखा—दो अपरिचित पुरुष आकर उसके निकट ही छिपकर खड़े हो गये हैं। दिवोदास ने सोचा—ये लोग कौन हैं? और इस प्रकार छिपकर खड़े होने में इनकी क्या दुरभिसन्धि है। वह इतना सोच ही रहा था कि आगन्तुकों में से एक ने कहा—

"किन्तु मंजुघोषा तो यहाँ दिखाई नहीं दे रही है?"

मंजु का नाम सुनकर दिवोदास के कान खड़े हो गये। उसने सोचा—यह कोई नया षड्यन्त्र है। वह ध्यान से उनकी बातें सुनने लगा।

आगन्तुकों में एक गोरख ब्राह्मण था, दूसरा जयमङ्गल सेठ।

सेठ ने कहा—"क्या यह सच है कि महाप्रभु भी उस छोकरी पर मुग्ध हैं"। गोरख ने उसका हाथ दबा कर कहा—"चुप-चुप, महाप्रभु इधर ही आ रहे हैं।" दोनों अन्धकार से निकल कर बाहर प्रकाश में आ खड़े हुए। सिद्धेश्वर को देखकर दोनों ने प्रणाम किया। सिद्धेश्वर ने हँसकर आशीर्वाद देते हुए कहा—"आज नगर की चहल-पहल छोड़कर श्रेष्टि इस समय यहाँ कैसे?"

गर्भगृह में बुलाया है। इसी के लिए वह तीन दिन से व्रत और उपवास कर रही है। तुम उसे दो पहर रात बीते मेरे सोने के कमरे में ले आना। समझे।"

"समझ गया प्रभु।"

"एक बात और।"

"क्या ?"

"अन्धकूप पर कड़ा पहरा लगा दो। जिससे यह खबर सुनयना के कानों में न पड़ने पाए।"

"बहुत अच्छा।"

माधव एक ओर को चल दिया। और सिद्धेश्वर दूसरी ओर को।

गोरख ने कहा--"अब कहो ?"

जयमङ्गल ने तलवार वस्त्र से निकाल कर कहा—"रक्षा करनी होगी।"

दिवोदास ने आड़ से बाहर आकर कहा—"मैं तुम्हारी सहायता करूँगा।"

सुखानन्द ने बढ़ कर कहा—"और मैं भी।"

जयमङ्गल ने कहा—'वाह तब तो हमारा दल विजयी होगा।'

चारों जन कुछ सोच-सलाह कर, एक अँधेरी गली में घुस गए।

—:०:-

रङ्ग में भङ्ग

सिद्धेश्वर कमरे में गद्दी के ऊपर बैठा सामने खिड़की से चमकते हुए बहुत से तारों और चन्द्रमा को देख रहा था। चौकी पर सामने एक ताँबे की तख्ती रखी थी। ऊपर कुछ अंक लिखे थे—उन्हें देख देखकर वह एक भोजपत्र पर कुछ लकीरें खींच रहा था, फिर कुछ उँगलियों पर गिनता था। बीच-बीच में उसकी भृकुटि में बल पड़ जाते थे। आकाश में चन्द्रमा पर एक बादल का टुकड़ा छा गया। सिद्धेश्वर ने एकाग्र होकर उस ताम्रपत्र पर दृष्टि गड़ा दी। अन्त में व्याकुल होकर लेखनी फेंक दी। उसने आप ही बड़बड़ाते हुए कहा—

"वही एक फल। दुर्भाग्य, असफलता, दुर्घटना, रक्तपात। सब दुष्ट ग्रह मिल गए हैं। मङ्गल, बुध, शुक्र और शनि तथा चन्द्रमा चौथे स्थान में हैं। गुरु-केतु केन्द्र में, राहु अष्टम में है। जन्म से राहु पञ्चम है। परन्तु चाहे जो हो, मेरी शक्ति बड़ी है, मेरा मन्त्रबल ऊँचा है। मैं आशा नहीं छोड़ूँगा। सात अरब की सम्पदा और अनिन्द्य सुन्दरी मंजुघोषा त्यागने की वस्तु नहीं। मंजु मेरे आधीन है, परन्तु सम्पत्ति? (ताँबे की तख्ती पर दृष्टि डाल कर) यह आधा बीजक है, आधा सुनयना ने कहीं छिपा रखा है!" वह उठकर बेचैनी होकर टहलने लगा।

उसने फिर कहा—"चाहे जो हो, छल से या बल से, मैं उसे वश में करूँगा!" परन्तु इतना विलम्ब क्यों हो रहा है। माधव उसे अभी

तक लाया क्यों नहीं। कहीं उसपर मेरा कौशल तो प्रकट नहीं हो गया ? नहीं, यह संभव नहीं।

इसी समय एक विश्वस्त दासी ने आकर सूचना दी कि माधव और दासी मंजुघोषा चरण सेवा में आ रहे हैं।"

सिद्धेश्वर ने प्रसन्न होकर कहा—"उन्हें आने दो।"

आगे मंजु, पीछे माधव ने आकर प्रणाम किया।

सिद्धेश्वर ने कहा—"माधव ! इसे पवित्र वेदी के कक्ष में ले जाओ, और पूजा का प्रबन्ध करो। मैं अभी आकर इसे महामन्त्र की दीक्षा दूँगा। (मंजु से) मंजु, आज तुम्हारा जीवन सफल होगा।"

माधव झुककर चल दिया, मंजु भी सिर झुकाकर चुप चाप पीछे-पीछे चली गई।

सिद्धेश्वर ने हाथ मलते हुए कहा—"अब कहाँ जाती है।"

वह अपने हाथ से ढाल-ढालकर मद्य पीने लगा।

माधव मंजु को लेकर गुप्त द्वार से उस अँधेरी टेढ़ी-मेढ़ी राह से चला। मंजु भयभीत हुई। उसने कहा—"यहाँ कहाँ लिये जाते हो ?"

"पवित्र देवी तो यहीं है।"

"पर यहाँ तो घोर अन्धकार है।"

"तुम्हारे जाते ही वह आलोकित हो जायगा।"

"मुझे मेरे आवास में पहुँचा दो माधव।"

"आज नहीं, कल।"

"कल क्यों ?"

"कल मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।"

"इसका क्या मतलब है ?"

"कल तुममें वह शक्ति आ जायगी।"

"मैं नहीं समझी, माधव।"

"न समझना ही अच्छा है।"

"क्यों ?"

"सेवक कर धर्म समझना नहीं, आज्ञा का पालन करना है।"

मंजु—क्या ?

वे एक एकान्त कक्ष में पहुँचे, वहाँ बड़ी-बड़ी विशाल-विकराल मूर्तियाँ रक्खी हुईं थीं। माधव ने उँगली से दिखाकर कहा—"वह वेदी है... वहीं खड़ी रहो। और जो कुछ पूछना हो आचार्य से पूछना।" मंजु कुछ देर चुपचाप खड़ी माधव को एकटक देखती रही!

माधव मंजु को वहीं खड़ी छोड़कर चला गया। मंजु वहाँ की भयानक मूर्तियों को देखकर भय से काँपने लगी। एकाएक गुप्त द्वार से सिद्धेश्वर ने प्रवेश किया।

सिद्धेश्वर ने मंजु के निकट आकर कहा—"सुन्दरी मंजुघोषा, तुम्हारे आने से इस पवित्र स्थान के सभी दीपक मन्द पड़ गए, समझती हो क्यों ?"

मंजु ने नीची दृष्टि करके कहा—"नहीं प्रभु।"

"तुम्हारी सुन्दरता से। तुम्हारे कोमल अङ्ग की सुगन्ध ने यहाँ के सभी फूलों की सुगन्धि को मात कर दिया है।"

मंजु विरक्त भाव से चुप खड़ी रही। उसने लज्जा और सङ्कोच से सिर झुका लिया।

सिद्धेश्वर ने मंजु का हाथ पकड़ कर कहा—"मंजु, तुमने मेरी बात नहीं समझी ?"

"नहीं प्रभु !" उसने हाथ खींचकर छुड़ा लिया।

"तुम भोली जो ठहरी, पहिले इस पवित्र प्रसाद को पिओ।"

उसने मद्य ढाल कर पात्र मंजु के मुँह के पास लगा दिया, फिर बोला—"पियो मंजु, यह देवता का प्रसाद है।"

मंजु ने निषेध किया। परन्तु सिद्धेश्वर ने उसे जबर्दस्ती पिला दिया।

पीछे स्वयं भी पी। मंजु भयभीत हो एक खम्भे के सहारे टिक गई।

सिद्धेश्वर ने कहा—"तुम्हारे सौन्दर्य का मद इस मद से बहुत अधिक है। समझी मंजु!" उसने मंजु की टोढ़ी छूकर कहा।

"प्रभो! आप गुरु हैं, ऐसी बातें न कीजिए।"

सिद्धेश्वर ने हँसकर कहा—"ठीक है, आओ अब तुम्हें महामन्त्र की दीक्षा दूँ।" उसने उसका हाथ पकड़ा और एक ओर को ले चला।

दिवोदास, जयमङ्गल, सुखानन्द और गोरख भी छिपते हुए पीछे-पीछे चले। जिस कमरे में वे पहुँचे, उस कमरे में विलास की सब सामग्री उपस्थित थी। गुद्गुदा पलङ्ग था, बड़ी बड़ी वीणाएँ, मद्य के स्वर्णपात्र आदि सामग्री उपस्थित थी। कमरा खूब सजा था। फूलों की मालाएँ जगह-जगह टँगी थी। सिद्धेश्वर मंजु का हाथ पकड़े आया और पलङ्ग की ओर सङ्केत करके कहा—"यहाँ बैठो प्यारी!"

मंजु यह सम्बोधन सुनकर चमक उठी। उसने अधीर होकर कहा—"प्रभु, मुझे जाने दीजिए।" वह उठ खड़ी हुई।

सिद्धेश्वर ने हाथ पकड़ कर कहा—"जाती कहाँ हो प्यारी, मेरे हृदय में आकर बैठो।" उसने खींचकर उसे आलिंगन पाश में बाँध लिया।

मंजु ने बलपूर्वक अलग होने की चेष्टा करते हुए कहा—"प्रभु, मैं आपकी पाली हुई पुत्री हूँ छोड़िए! छोड़िए!!"

"बुद्धिमान जन अपने लगाए पेड़ का फल स्वयं खाते हैं, मैंने तुम्हें सींच-सींचकर उसी क्षण के लिए बड़ा किया है।" उसने बलपूर्वक खींच-कर उसे छाती से लगा लिया।

मंजु ने बल प्रयोग करते हुए चीखकर कहा—"छोड़िए! छोड़िए!! प्रभु छोड़िए।"

"डरो मत मंजु, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

"जाने दीजिए, छोड़िए।"

उसे और कसकर जकड़ते हुए कहा—बुद्धिमान !

सिद्धेश्वर ने अब जरा कड़े स्वर में कहा—"पगली लड़की, जानती है सिद्धेश्वर का मस्तक भूतेश्वर भगवान के सामने झुकता है। वही अब तेरे सामने झुक रहा है। मंजु, मुझे अपने यौवन का प्रसाद दे।" वह मंजु को छोड़कर उसके पैरों के पास घुटने टेक कर बैठ गया।

मंजु ने घबराकर लजाते हुए कहा—"उठिए प्रभु, यह आप क्या कर रहे हैं?"

"मुझे अपना प्यार दो, मंजु !"

"नहीं प्रभु, यह कभी नहीं हो सकता, मुझे जाने दीजिए।"

"तुम मेरे हृदय में बसी हो, जा कहाँ सकती हो प्रिये ! कहो, तुम मेरी हो।" उसने बलपूर्वक खींचकर उसे पुनः छाती से लगा लिया। मंजु ने क्रोध में भरकर जोर से उसे ढकेल दिया, वह गिरकर घायल हो गया। सिर से खून बहने लगा। उसने क्रोधित हो उठकर मंजु पर चोट करनी चाही, तभी अकस्मात् गुप्त द्वार खुल गया। दिवोदास और जय-मङ्गल तलवार लिए भीतर घुस आए। और पीछे-पीछे सुखानन्द भी। इन सबको देखकर सिद्धेश्वर विमूढ़ हो गया।

सिद्धेश्वर—तुम कौन हो ? (पहचान कर) पापिष्ट बौद्ध भिक्षु और तुम अभागे युवक ?

दिवोदास—मैं तुम्हारा काल हूँ। पापिष्ट ! पाखण्डी !

यह कहकर दिवोदास तलवार फेंककर सिद्धेश्वर से भिड़ गया। मल्ल युद्ध होने लगा। लड़ते-लड़ते एक पत्थर के खम्भे के पास दोनों जा पहुँचे। बीच-बीच में जयमङ्गल भी एकाध घूँसा सिद्धेश्वर को जमा देता था। मंजु खड़ी भयभीत देख रही थी। उस खम्भे पर भयानक काली की मूर्ति थी। वहाँ पहुँच कर सिद्धेश्वर ने चिल्लाकर कहा—"अब माँ चन्डी, लो नर बली।" मूर्ति भयानक रीति से अट्टहास कर उठी। एक बार सब भयभीत हो गए। मंजु अधिक भयभीत हुई। दिवोदास भी

डर गया। पृथ्वी काँपने लगी और सैकड़ों बिजलियाँ चमकती और गर्जती दीख पड़ने लगीं। देखते ही देखते वह मूर्ति धरती में धँसने लगी। और कक्षमें अग्नि की ज्वाला भभक उठी। मंजु मूर्छित हो गई। सुखानन्द ने साहस कर आगे बढ़ और पैंतरा सँभाल कर सिद्धेश्वर पर चोट की। सिद्धेश्वर मूर्छित होकर गिर पड़ा। दिवोदास ने उसके पंजेसे छूटकर फुर्ती से मूर्छित मंजुघोषा को उठा लिया तथा एक ओर ले भागा। सुखदास ने भी नंगी तलवार ले उसका अनुगमन किया।

रहस्योद्घाटन

निरापद स्थान पर आकर सुखदास ने कहा—"अब यहाँ ठहर कर थोड़ा विचार कर लो भैया।"

"हमें यहाँ से भाग चलना चाहिए।"

"नहीं, अभी नहीं, देवी सुनयना का उद्धार भी हमें करना है।"

मंजु ने घबराकर कहा—"क्या वे किसी विपत्ति में हैं?"

"उन्हें सिद्धेश्वर ने अन्धकूप में डाल दिया है।"

"किसलिए?"

"गुप्त रत्नकोष के बीजक की प्राप्ति के लिए।"

"किन्तु वह तो मेरे पास है।"

"कहाँ पाया?"

"देवी सुनयना ने दिया था।"

"तो तुम उसका सब भेद जानती हो?"

"हाँ, मुझे देवी सुनयना ने सब बता दिया है।"

"देवी सुनयना ने तुम्हें और भी कुछ बताया है?"

"हाँ, उन्होंने बताया है कि मैं लिच्छवि-महाराज श्रीनृसिंह देव की पुत्री हूँ।"

"और देवी सुनयना कौन हैं? यह भी उन्होंने बताया?"

"वे मेरी माता की दासी और मेरी धायमाँ हैं।"

"देवी सुनयना, तुम्हारी जन्मदात्री माँ और लिच्छविराज की पट्टराज महिषी सुकीर्ति देवी हैं ?"

मंजु ने आश्चर्य और आनन्द से काँपते हुए कहा—"सच ?"

"वे तुम्हारे ही कारण अपनी मर्यादा और प्रतिष्ठा को लात मार कर यहाँ यह गर्हित जीवन व्यतीत कर रही हैं।"

मंजु की आँखों से झर-झर मोती झरने लगे। उसके फूल से होठों से माँ-माँ की ध्वनि निकली।

दिवोदास ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—"घबराओ मत! तुम अभी आवास में जाओ, अब सूर्योदय में विलम्ब नहीं है, दिन में वह पापिष्ट तुम्हारा कुछ अनिष्ट न कर सकेगा। तथा तुम अकेली मत रहना, सबके साथ रहना। हम महारानी का उद्धार करके तथा उन्हें सुरक्षित स्थान पर पहुँचा कर तुमसे मिलेंगे। फिर कहीं भाग चलने पर विचार होगा।"

"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ तो ?"

"ठीक नहीं होगा। कार्य में बाधा होगी। तुम जाकर स्वाभाविक रूप से अपनी नित्यचर्या करो, मानो कुछ हुआ ही नहीं।"

मंजु ने स्वीकार किया। वह अपने आवास की ओर आई। सुखदास और दिवोदास ने परामर्श किया।

सुखदास ने कहा—"मैंने प्रहरियों को मिला लिया है, वे महारानी को छोड़ देंगे। अब उन्हें लेकर कहाँ छिपाया जाय, यही सोचना है।"

"तो यह भी उन्हीं से परामर्श करके सोचा जायगा। वही इसका ठीक समाधान कर सकेंगीं।"

"तो फिर विलम्ब क्यों!" दोनों ने अपने हाथ के शस्त्रों को सावधानी से पकड़ा, और अन्धकार में एक ओर बढ़े। दिवोदास ने कहा—"वे ?"

"वह धूर्त ब्राह्मण तो मेरे हाथ से बचकर भाग निकला—परन्तु सेठ को मैंने बाँध कर एक खूब सुरक्षित स्थान पर डाल दिया है।"

"तो यही अन्धकूप का द्वार है। तुम प्रहरी से बात करो।" सुखदास ने प्रहरी से सङ्केत किया। उसने चुपके से द्वार खोल दिया। दोनों अन्धकूप में प्रविष्ट हुए। दुर्गन्ध और सील के मारे वहाँ साँस लेना भी दुर्लभ था।

सुखदास ने कहा—"क्या महारानी जाग रही हैं?"

"कौन है?"

"मैं सुखदास हूँ। मेरे साथ श्रेष्ठि पुत्र दिवोदास भी हैं।"

"शुभ है कि आप लोग सुरक्षित हैं। किन्तु मेरी मंजु?"

"वह सकुशल है। आप उसकी चिन्ता न करें महारानी। आप यहाँ से निकलिए।"

"निकल कर कहाँ जाऊँ?"

"यह हम परामर्श करके ठीक कर लेंगे।"

"यह ठीक न होगा। मेरी प्रतिज्ञा है कि काशीराज और इस धूर्त सिद्धेश्वर से बिना अपने पति का बदला लिए यहाँ से न जाऊँगी। परन्तु तुम मंजु को लेकर भाग जाओ। गुप्त स्थान मैं बताती हूँ।"

"कौन-सा?"

"क्या कोई और भी इस गुप्त बात को जानता है?"

"नहीं महारानी।"

"तो मंजु के पास गुप्त राजकोष का बीजक और ताली है। वहाँ पहुँचने पर आप लोगों को कोई न पा सकेगा।"

"उसका मार्ग?"

"वह बीजक बताएगा?"

"किन्तु आप?"

"मेरी चिन्ता मत करो, मुझमें अपनी रक्षा करने की पूरी शक्ति है। तुम मंजु को यहाँ से ले जाओ।"

"जैसी राजमाता की आज्ञा।"

"तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ पुत्र, मैं तुम्हें शीघ्र ही मिलूँगी।"

दोनों पुरुषों ने फिर अधिक बात नहीं की। वे अन्धकूप से निकल कर छिपते हुए टेढ़ी-मेढ़ी राह को पार करते हुए चले। पूर्व में लाली फैल रही थी।

मन्दिर में

मन्दिर में पूजन की तैयारी हो रही थी। रुद्राभिषेक हो रहा था। विविध वाद्य बज रहे थे। काशीराज और सिद्धेश्वर यथास्थान खड़े थे। देवदासियाँ देवता का शृङ्गार कर रही थीं—मंजु आरती की माला सजाती हुई मन ही मन कह रही थी—देव! जीवन भर जिस कार्य का अभ्यास किया, आज वह नीरस हो गया। तुम यदि सचमुच अन्तर्यामी हो तो तुमने मेरे मन की दशा समझ ली होगी, और तुम्हें मुझ पर दया आई होगी। मैंने जीवन भर तुम्हारी तन-मन,धन से सेवा की है, अब तुम मेरी इच्छा पूरी करो देव!

उसने अश्रुपूर्ण नेत्रों से देवता की ओर देखा, और पूजा का थाल उठाया। वह दो कदम आगे बढ़ी। देखा, सम्मुख दिवोदास खड़ा है। मंजु के हृदय में आनन्द की लहर दौड़ गई। उसने एक बार घृणापूर्वक सिद्धेश्वर की ओर देखा, और वह उलट कर दिवोदास के सम्मुख जा पहुँची। उसने दिवोदास की आरती उतार कर देवता की माला भी उसके गले में डाल दी। यह देख सब लोग 'पूजा भ्रष्ट हो गई', 'पूजा भ्रष्ट हो गई', चिल्ला उठे। बाजे एकदम बन्द हो गये। सिद्धेश्वर आप से बाहर होकर चीख उठे। काशीराज ने क्रुद्ध स्वर से कहा—

"मूर्खे! पूजा भ्रष्ट कर दी।"

किन्तु मंजु ने उधर देखा ही नहीं। उसने आनन्द विभोर होकर दिवोदास के निकट आकर कहा—"पतिदेव, पूजा सार्थक हुई न?"

"हाँ प्रिये।"

काशीराज ने क्रुद्ध होकर कहा—"दोनों को बाँध लो।"

राजाज्ञा का तुरन्त पालन हुआ। मंजु को...

मंजु को उसी के कमरे में बन्द कर दिया गया और दिवोदास को नदी के उस पार दुर्गम दुर्ग में बन्दी कर दिया गया। मंजु की सखी लता उसके लिए भोजन लेकर आई तो मंजु ने कहा—

"सखी, क्या तू उनका कुछ समाचार जानती है?"

"जानती हूँ—पर सुनकर तुम्हें दुःख होगा।"

"फिर भी कह दे सखी।"

"मंजु इस प्रेम में अपने को नष्ट न कर।"

"आह सखी, मैं प्यार का घाव खा बैठी हूँ।"

"किन्तु वह अज्ञात कुलशील भिक्षु है।"

"अज्ञात कुल शील नहीं वह धनञ्जय श्रेष्ठि का पुत्र है।"

"परन्तु उसे तो महाराज ने कान्तार दुर्ग में बन्दी कर दिया है?"

"हे भगवान्—कान्तार दुर्ग में?"

"वहाँ उसे प्राणान्त प्रायश्चित करने का आदेश दिया गया है। दोनों धूर्त आचार्य उसकी जान के ग्राहक बन बैठे हैं।"

मंजु ने कहा—"सखी, मेरी सहायता कर!"

"जो तू कहे।"

"मुझे वहाँ जाने दे।"

"कैसे?"

"तू मेरे लिये त्याग कर।"

"तेरे लिए मेरे प्राण भी उपस्थित हैं।"

"तो तू यहाँ मेरे स्थान में रह, मैं तेरे वस्त्र पहन कर निकल जाऊँगी।"

"तो तू जा।"

"पर जानती है, तेरी क्या गत बनेगी।"

"वे मेरा बध करेंगे, मैं सह लूँगी।"

"हाय सखी—कैसे कहूँ।"

"मेरी चिन्ता न कर।"

मंजु ने जल्दी-जल्दी सखी के वस्त्र पहने। अपने उसे पहनाए। भोजन की सामग्री हाथ में ली और बन्धन से बाहर हो गई। प्रहरी कुछ भी न जान सका।

मंजु चल दी। किसी ने उसे लक्ष्य नहीं किया। वह पागल की भाँति भागी चली जा रही थी। भूख प्यास और थकान ने उसके कोमल गात्र को क्लान्त कर दिया। उसके पैरों में घाव हो गये और वह बारम्बार लड़खड़ा कर गिरने लगी। वह गिरती, उठती—और फिर भागती। घोर बन था। बड़ी तेज धूप थी। सामने भयानक विस्तार वाली नदी के उस पार, सूखी नङ्गी पहाड़ी पर ऊँचा सिर उठाए वह एकान्त दुर्ग था। वह साहस करके नदी में कूद पड़ी। लहरों के साथ डूबती-उतराती वह उस पार जा पहुँची।

उसकी शक्ति ने जवाब दे दिया। परन्तु वह चलती ही चली गई। दुर्गम पहाड़ पर चढ़ना—बड़ा दुस्साहस का कार्य था परन्तु प्रेम का बल उसे मिलता गया—वह दुर्ग द्वार पर पहुँच गई। दुर्ग का द्वार बन्द था। उसकी भारी लौह शृङ्खलाओं में मजबूत ताला पड़ा था। उसने व्याकुल दृष्टि से चारों ओर देखा—उस दुर्गम कान्तार दुर्ग में चिड़िया का पूत भी न था। उसने एक बार दुर्ग के चारों ओर चक्कर लगाया। अन्त में निराश हो थक कर वह एक शिलाखण्ड पर पड़ गई। उसे नींद आ गई। न जाने वह कबतक सोती रही। जब उसकी आँखें खुलीं तो देखा-सूर्य अस्त हो रहा है, और एक वृद्ध चरवाहा उसके निकट खड़ा है।

वह हड़बड़ा कर उठ बै । बृद्ध चरवाहे ने कहा—"तुम कौन हो और यहाँ कैसे आई ?"

"मैं विपत्ति की मारी दुखिया स्त्री हूँ बाबा, भाग्य-दोष से यहाँ आ फँसी हूँ।"

"परन्तु यहाँ सिंह रहता है, तुझे खा जायगा। बस्ती दूर है, तू रात कहाँ व्यतीत करेगी।"

"मैं चाहती हूँ सिंह मुझे खा जाय ?"

"परन्तु तेरे यहाँ आने का कारण क्या है ?"

"एक पुरुष इस दुर्ग में बन्द भूखा मर रहा है।"

"तुझे किसने कहा ?"

"मैं जानती हूँ। उसी के लिए मैं यहाँ आई थी। किन्तु भीतर जाऊँ कैसे ?"

"भीतर ही जाना है तो मैं पहुँचा सकता हूँ, परन्तु वहाँ कोई मनुष्य नहीं है।"

"क्या तुम जानते हो बाबा।"

"मैं तो वहाँ नित्य आता जाता हूँ।"

"क्या भीतर जाने की कोई और भी राह है।"

"वह मैंने अपने लिए बनाई है।"बूढ़ा चरवाहा हँस दिया।

"तो बाबा, मुझे वहाँ पहुँचा दो।"

"परन्तु रात होने में देर नहीं है, फिर मेरा भी गाँव लौटना कैसे होगा।"

"वहाँ एक मनुष्य भूखा मर रहा है बाबा।"

"तब चल, मैं चलता हूँ।"

दोनों पहाड़ी के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से चलने लगे। मंजु में चलने की शक्ति नहीं रही थी। परन्तु वह चलती ही गई। अन्त में एक खोह में घुसकर चरवाहे ने एक पत्थर खसका कर कहा—"इसी में चलना

होगा।" वह प्रथम स्वयं ही भीतर गया। पीछे मंजु भी घुस गई। थोड़ा चलने पर एक विस्तृत मैदान दीख पड़ा। दूर किसी अट्टालिका के भग्न अवशेष थे।

"वहाँ चलें बाबा" मंजु ने उधर सङ्केत करके कहा। चरवाहे ने आपत्ति नहीं की। खण्डहर के पास पहुँच कर मञ्जु जोर से दिवोदास को पुकारने लगी। उसकी ध्वनि गूँजकर उसके निकट आने लगी। परन्तु वहाँ कहीं किसी जीवित मनुष्य का चिह्न भी न था।

बूढ़े ने कहा—"मैंने तो तुमसे कहा था—यहाँ कोई मनुष्य नहीं है, अब रात को गाँव पहुँचना भी दूभर है, राह में सिंह के मिलने का भय है, पर मैं जा सकता हूँ। क्या तू यहाँ अकेली रहेगी ? या गाँव तक चल सकती है ?"

"बाबा, मैं यहीं प्राण दूँगी। आपका उपकार नहीं भूलूँगी। आप जाइए।"

"यहाँ तुझे अकेला छोड़ जाऊँ ?"

"मेरी चिन्ता न करें—मेरा जीवन अब निरर्थक ही है।"

इसी समय उसे ऐसा भान हुआ, जैसे किसी ने जोर से साँस ली हो।

मञ्जु ने चौंक कर कहा—"आपने कुछ सुना—यह किसी ने साँस ली है।"

वह लपक कर खोह में घुस गई। उसने देखा—एक शिलाखण्ड पर दिवोदास मूर्छित पड़ा है। चरवाहा भी पहुँच गया। उसने दूर ही से पूछा—"मर गया या जीवित है।"

मंजु ने रोते हुए कहा—"बाबा, यहाँ कहीं पानी है ?"

"उधर है", और वह निकट पहुँच गया। उसने दिवोदास को ध्यान से देखा। और कहा—"आओ इसे उधर ही ले चलें। बच जायगा।" दोनों ने दिवोदास की मूर्छित देह को उठा लिया, और जहाँ जल की

पुष्करिणी थी वहाँ ले गए। यहाँ बाँध बाँधकर वर्षा का जल रोका गया था। थोड़ा जल पीने तथा मुँह और आँखों पर छिड़कने से थोड़ी देर में दिवोदास को होश आ गया। उसने आँखें खोल कर मंजु को देखा– उसके होठों से निकला—मंजु–प्रिये,।

मंजु उसके वक्ष पर गिर कर फफक-फफक कर रोने लगी।

दिवोदास ने धीमे स्वर से कहा—"मैं जानता था कि तुम आओगी, सो तुम आ गई।" उसने मंजु को हृदय से लगा लिया। कुछ देर बाद कहा—

"अब मैं सुख से मर सकूँगा।"

"मरेंगे तुम्हारे शत्रु।" उसने दृढ़ता से उठ कर दिवोदास का सिर अपनी गोद में रख लिया।

"प्यारी, तुमने मुझे जिला दिया।" दिवोदास ने कहा।

"मैंने नहीं प्रिय, इस देव पुरुष ने", मंजु ने उस चरवाहे की ओर संकेत किया। दिवोदास ने अब तक उसे नहीं देखा था। अब उसकी ओर देख कर कहा—

"तुम कौन हो भाई।"

"मैं चरवाहा हूँ, पास ही गाँव में रहता हूँ, यहाँ नित्य बकरी चराता हूँ। भीतर आने जाने की राह यह मैंने अपने लिए बना ली थी। संध्या को जब मैं घर लौट रहा था इन्हें मूर्छित पड़ा देखा। इसी से रुक गया। लड़के को बकरी लेकर घर भेज दिया। सो अच्छा ही हुआ—दो दो प्राणी बच गए।" बूढ़ा बहुत खुश था।

दिवोदास ने कहा—"बचा लिया तुमने बाबा, तुम उस जन्म के मेरे पिता हो। अब यहाँ मेरे पास आकर बैठो।" बूढ़ा भी वहीं बैठ गया। उसने कहा—"अब तो रात यहीं काटनी होगी। परन्तु खाने को तो कुछ भी नहीं मिल सकता। देखता हूँ तुम दोनों भूखे हो।"

मंजु ने कहा—"मेरे साथ थोड़ा भोजन है, उससे हम तीनों का

आधार हो जायगा।" उसने पोटली खोली। तीनों ने थोड़ा-थोड़ा खा कर पानी पिया। भोजन करने से दिवोदास में कुछ शक्ति आई। वह एक पत्थर के सहारे बैठ गया। चरवाहे ने कहा—"थोड़ी आग जलानी होगी, नहीं तो बन-पशु का भय है। मैं ईंधन लाता हूँ।" और वह उठ कर चला गया।

मंजु ने उसके गले में बाँहें डाल कर कहा—"अब तुम तनिक हँस दो।"

"क्या मैं फिर कभी हँस भी सकूँगा?"

"हम सदैव हँसेंगे, गाएँगे, मौज करेंगे।" और वह दिवोदास से लिपट गई। दिवोदास ने कहा—"प्यारी, तुम्हारे इस स्नेह दान ने मेरे बुझते हुए जीवन-दीपक को बुझने से बचा लिया। और तुम्हारी मधुर वाणी ने मेरे सूखे हुए जीवन को हरा भरा कर दिया।" उसने उसे अपने बाहुपाश में कसकर अगणित चुम्बन ले डाले।

चरवाहे ने एक गट्ठर लकड़ी लाकर उसमें आग लगा दी। और तीनों आदमी वहीं पृथ्वी पर लेट गए। मंजु पड़ते ही गहरी नींद में सो गई। वह बहुत थकी थी। दिवोदास भी दुर्बल था। वह भी सो गया। परन्तु चरवाहा बड़ी देर तक जागता रहा।

प्रातःकाल होते ही नित्यकर्म से निवृत्त होकर तीनों ने सलाह की। दिवोदास ने वृद्ध का हाथ पकड़ कर कहा—"मित्र, तुम मेरे आज से पितृव्य हुए। अब हम तुम कभी पृथक् न होंगे। मेरे दुख-सुख में तुम्हारा साझा रहेगा।"

बूढ़े ने हँसकर कहा—"तुम चिन्ता न करो भाई। तुम्हारे बराबर ही मेरा लड़का है, और ऐसी ही लड़की भी है। तुम भी मेरे लड़के लड़की रहे। गाँव चलो, बहुत जमीन है, धान्य है, दूध है। खाओ पिओ मौज करो। तुम्हें क्या चिन्ता!"

"किन्तु पितृव्य, हमारा । तुम्हें उसमें सहायता देनी होगी।"

"कहो, क्या करना होगा ?"

"हमारे शत्रु हैं।"

"तो मेरे लड़के को बता दो, वह उनकी खोपड़ी तोड़ देगा।"

"परन्तु वे बड़े बलवान् हैं, काम युक्ति से लेना होगा।"

"फिर जैसे तुम कहो।"

"हमें छिप कर रहना होगा।"

"तो हमारे गाँव में रहो।"

"वहाँ नहीं छिप सकेंगे, राज-सैनिकों को पता चल जायगा।"

"तब क्या किया जाय ?" मंजु ने प्रश्न किया।

"राज माता ने जो आदेश दिया है वही।"

"ठीक है, तो मुझे एक बार मन्दिर में जाना होगा।"

"किसलिए ?"

"ताली और बीजक लेने, परन्तु एक बात है।"

"क्या ?"

"मेरे पास आधा ही बीजक है। शेष आधा सिद्धेश्वर के पास है। वह भी लेना होगा। बिना उसके हम उस कोषागार में नहीं पहुँच सकेंगे।"

"तब हमें एक बार काशी चलना होगा। तुम अपनी वस्तु लेना और मैं सिद्धेश्वर से वह बीजक लूँगा।"

बूढ़े ने कहा—"मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।"

"तुम्हें अब हम नहीं छोड़ेंगे पितृव्य।"

"तो पहिले गाँव चलो। खा पीकर, टंच होकर रात को काशी चलेंगे।"

"यही सलाह ठीक है।"

तीनों व्यक्ति उसी खोह की राह निकल कर गाँव की ओर चल दिए

सिद्धेश्वर का कोप

सिद्धेश्वर क्रोधपूर्ण मुद्रा में अपने गुप्त कक्ष में बैठे थे। इसी समय माधव ने रस्सियों से बाँधकर लिच्छवी राजमहिषी सुकीर्ति देवी को उनके सामने उपस्थित किया। सम्मुख आते ही सिद्धेश्वर ने कहा—तुम्हें मालूम है देवी सुनयना, कि मंजु भाग गई है?"

"तो क्या हुआ, मन्दिर में अभी बहुत पापिष्ठा हैं?"

"परन्तु क्या तुमने उसके भागने में सहायता दी है?"

"दी तो फिर?"

"मैं तुम्हें और उसे दोनों को प्राणान्त दण्ड दूँगा।"

"बड़ी सुन्दर बात है। जिसे राजरानी पद से च्युत कर विधवा और पतिता देवदासी बनाया—जिसकी बच्ची को पतित जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य किया। और जिसे वासना की सामग्री बनाना चाहते थे—उसी को अब प्राणदण्ड भी दो?"

"चुप रहो सुनयना देवी?"

"क्यों चुप रहूँ? मैं ढोल पीट कर संसार को बताऊँगी, कि मैं कौन हूँ, और तुमने मेरे साथ क्या किया है।"

"तुम जो चाहो कहो। कौन तुम पर विश्वास करेगा?"

सुनयना ने चोली से एक छोटी सी वस्तु निकाल कर उसे दिखाई और कहा—"इसे तो तुम पहचानते हो सिद्धेश्वर, जानते हो, इसमें किसका खून लगा है? इसे देखकर तो लोग विश्वास कर लेंगे?" उस वस्तु को देखकर सिद्धेश्वर डर गया। उसने कहा—

"देवी सुनयना, इस प्रकार आपस में लड़ने झगड़ने से क्या लाभ होगा ! तुम मुझे उस खजाने का शेष आधा बीजक दे दो–मैं तुम दोनों को मुक्त कर दूँगा—बस।"

"प्राण रहते यह कभी नहीं होगा।"

"तो तुम्हारे प्राण रहने ही न पावेंगे।"

"जिसने प्राण दिया है—वही उसकी रक्षा भी करेगा, तुम जैसे शृगालों से मैं नहीं डरती।"

"मैंने उसे पकड़ने के लिए सैनिक चर भेजे हैं। वह जहाँ होगी—वहाँ से पकड़ ली जायगी और मैं तेरे सम्मुख ही उसे अपनी अंकशायिनी बनाऊँगा।"

सिद्धेश्वर ने आपे से बाहर होकर कहा—"माधव, ले जा इस सर्पिणी को और डाल दो अंधकूप में।"

माधव उसे लेकर चला गया। कुछ देर तक सिद्धेश्वर भूखे व्याघ्र की भाँति अपने कक्ष में टहलता रहा। फिर उसने बड़ी सावधानी से एक ताली अपनी जटा से निकाल लोहे की सन्दूक खोली और उसमें से एक ताम्र-पत्र निकाल कर उसे ध्यान से देखा तथा फलक पर लकीरें खींचता रहा। कभी-कभी उसके होठ हिल जाते–और भृकुटि संकुचित हो जाती। परन्तु वह फिर उसे ध्यान से देखने लगता।

इसी समय उसे कुछ खटका प्रतीत हुआ। उसने आँखें उठाकर देखा तो दिवोदास नंगी तलवार लिए सम्मुख खड़ा था। सिद्धेश्वर उछल कर दूर जा खड़ा हुआ। उसने कहा—"तू यहाँ कैसे आया रे धूर्त भिक्षु ?"

"इससे तुझे क्या ?"

"क्या ऐसी बात ?" उसने खूँटी से तलवार उठाकर दिवोदास पर आक्रमण किया।

दिवोदास ने पैतरा बदल कर कहा—"मेरी इच्छा तेरा हनन करने की नहीं है।"

"परन्तु मैं तो मुझे अभी टुकड़े-टुकड़े करके भगवती चण्डी को बलि देता हूँ।"

सिद्धेश्वर ने फिर वार किया। परन्तु दिवोदास ने वार बचाकर एक लात सिद्धेश्वर को जमाई। सिद्धेश्वर औंधे मुँह भूमि पर जा गिरा। दिवोदास ने ताम्रपट्ट उठाया और अपने वस्त्र में रख लिया।

सिद्धेश्वर ने गरजकर कहा—"अभागे, वह पत्र मुझे दे!"

"वह तेरे बाप की सम्पत्ति नहीं है रे धूर्त।"

"तब ले मर", उसने अन्धाधुन्ध तलवार चलाना प्रारम्भ किया। दिवोदास केवल बचाव कर रहा था, इसी से वह एक घाव खा गया। इस पर खीझकर उसने एक हाथ सिद्धेश्वर के मोढ़े पर दिया। सिद्धेश्वर चीख कर घुटनों के बल गिर गया।

इसी समय माधव तलवार लेकर कक्ष में कूद पड़ा। उसने पीछे से वार करने को तलवार उठाई ही थी, कि सुखदास ने उसका हाथ कलाई से काट डाला। माधव वेदना से मूर्छित हो गया। इसी समय पाकर दोनों भाग निकले। भागते-भागते सुखदास ने कहा—वहाँ—कुञ्ज में बिटिया छिपी बैठी है। तुम उसे लेकर और दीवार फाँदकर वाम तोरण के पीछे आओ, वहाँ अश्व तैयार हैं। मैं उधर व्यवस्था करता हूँ।

यह कहकर सुखदास एक ओर जाकर अन्धकार में विलीन हो गया। दिवोदास उसके बताए स्थान की ओर दौड़ चला।

संकेत पाते ही मंजु निकल आई। दिवोदास ने कहा—

"तुम्हारा कार्य हुआ?"

"हाँ! और तुम्हारा?"

"हो गया?"

"तब चलो?"

"किन्तु वह वृद्ध?"

"उन्हें मैंने आगे भेज दिया है।"

"तब चलो ।" दोनों वाम तोरण के पृष्ठ भाग की ओर वृक्षों की छाया में छिपते हुए चले । दिवोदास एक वृक्ष पर चढ़ गया । उसने मंजु को भी चढ़ा लिया और दोनों दीवार फाँद गये । दिवोदास ने कहा—यहाँ, अश्व तो नहीं है !"

"पर रुकना निरापद नहीं, हमें चलना चाहिये ।"

"चलो फिर, अश्व आगे मिलेंगे ?"

दोनों अन्धकार में विलीन हो गए ।

—:o:—

कापालिक के चंगुल में

गहन अँधेरी रात में मंजु और दिवोदास ने निविड़ बन में प्रवेश किया। मंजु ने कहा—"माँ का कहना है कि वह जो सुदूर क्षितिज में दो पर्वतों के शृङ्ग परस्पर मिलते दीखते हैं, उनकी छाया जहाँ एकीभूत हो हाथी की आकृति बनाती है, वहीं निकट ही उस गुप्त कोष का मुख द्वार है। इसलिये हमें उत्तराभिमुख चलते जाना चाहिये। विन्ध्य-गुहा को पार करते ही हम कौशाम्बी-कानन में प्रवेश कर जाएँगे।"

"परन्तु प्रिये, यह तो बड़ा ही गहन दुर्गम बन है, रात बहुत अँधेरी है। हाथ को हाथ नहीं सूझता। बादल मँड़रा रहे हैं। एक भी तारा दृष्टिगोचर नहीं होता। वर्षा होने लगी तो राह चलना एकबारगी ही असम्भव हो जायगा।"

"चाहे जो भी हो प्रिय हमें, चलते ही जाना होगा। जानते हो, उस बाघ ने अपने शिकारी कुत्ते हमारे लिए अवश्य छोड़े होंगे। चले जाने के सिवा और किसी तरह निस्तार नहीं है।"

"यह तो ठीक है, पर मुझे केवल तुम्हारी चिंता है प्यारी, तुम्हारे कोमल पाद-पद्म तो कल ही क्षत-विक्षत हो चुके थे। तुम कैसे चल सकोगी।"

"प्यारे! तुम्हारे साथ रहने से तो शक्ति और साहस का हृदय में सञ्चार होता है। तुम चले चलो।"

और वे दोनों निविड़ दुर्गम गहन बन में घुसते चले गये। घनघोर

वर्षा होने लगी ! बिजली चमकने लगी। वन-पशु इधर-उधर भागने लगे, आँधी से बड़े-बड़े वृक्ष उखड़ कर गिरने लगे। कँटीले झाड़ी में फँसकर दोनों के वस्त्र फटकर चिथड़े-चिथड़े हो गये। शरीर क्षतविक्षत हो गया। फिर भी वे दोनों एक दूसरे को सहारा दिए चलते चले गए।

अन्ततः मंजु गिर पड़ी—उसने कहा—"अब नहीं चल सकती।"

"थोड़ा और प्रिये, वह देखो उस उपत्यका में आग जल रही है। वहाँ मनुष्य होंगे। आश्रय मिलेगा।"

मंजु साहस करके उठी, परन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़ी। उसने अस-हाय दृष्टि से दिवोदास को देखा।

दिवोदास ने हाथ की तलवार मंजु के हाथ में देकर कहा—इसे मजबूती से पकड़े रहना प्रिये—और उसे उठाकर पीठ पर लाद ले चला।

प्रकाश धीरे-धीरे निकट आने लगा। निकट आकर देखा—एक जीर्ण कुटी है। कुटी के बाहर मनुष्य मूर्ति भी घूमती दीख पड़ी। परन्तु और निकट आकर जो देखा तो भय से दिवोदास का रक्त जम गया। मंजु चीख मार कर मूर्छित हो गई।

उन्होंने देखा—कुटी के बाहर छप्पर के नीचे एक कापालिक मुर्दे की छाती पर पद्मासन से बैठा है। उसकी बड़ी-बड़ी भयानक लाल-लाल आँखें हैं। उसका रङ्ग कोयले के समान काला है। उसकी जटाएँ और दाढ़ी लम्बी लटक रही है। तथा धूल मिट्टी से भरी है। कमर में एक व्याघ्र-चर्म बँधा है! गले में मुण्डमाला है। सामने मद्यपात्र धरा है, आग जल रही है, लपटें उठ रही हैं, कापालिक अघोर मन्त्र पढ़-पढ़कर माँस की आहुति डाल रहा है। माँस के अग्नि में गिरने से लाल-पीली लपटें उठती हैं।

दिवोदास ने साहस करके मंजु को नीचे पृथ्वी पर उतार दिया। और शङ्कित दृष्टि से कापालिक को देखने लगा।

कापालिक ने कहा—

"कस्त्वं ?"

"शरणागत ?"

"अच्छता-सा ?"

इसी बीच मंजु की मूर्छा जागी। उसने देखा—कापालिक भयानक आँखों से उसी की ओर देख रहा है। वह चीख मार कर दिवोदास से लिपट गई।

कापालिक ने अट्टहास करके कहा—"माभै बाले!" और फिर पुकारा—

"शारङ्गव, शारङ्गव ?"

एक नङ्ग-धड़ङ्ग, काला बलिष्ट युवक लङ्गोटी कसे, गले में जनेऊ पहने, सिर मुड़ा हुआ, हाथ में भारी खड्ग लिए आ खड़ा हुआ। उसने सिर झुकाकर कहा—

"आज्ञा प्रभु ?"

"इन्हें महामाया के पास ले जाकर प्रसाद दे, हम मन्त्र सिद्ध करके आते हैं।" सारङ्गव ने खोखली वाणी से कहा—,'चलो।"

दिवोदास चुपचाप उसके पीछे-पीछे चल दिया! मंजु उससे चिपक कर साथ-साथ चली।"

मन्दिर बहुत जीर्ण और गन्दा था। उसमें विशालाकार महामाया की काले पत्थर की नग्न मूर्ति थी। जो महादेव के शव पर खड़ी थी। हाथ में खांडा, लाल जीभ बाहर निकली थी। आठों भुजाओं में शस्त्र, गले में मुण्डमाल सन्मुख पत्रों में रक्त पुष्प, तथा मद्य से भरे घड़े धरे थे। एक पात्र में रक्त भरा था। सामने बलिदान का खम्भा था। पास ही एक खांडा भी रक्खा था।

दोनों ने देखा वहाँ शारंगव के समान ही चार और दैत्य उसी वेश में खड़े हैं। मूर्ति के सम्मुख पहुँच शारंगव ने कर्कश स्वर में कहा—"अरे मूढ़! महामाया को प्रणिपात कर।"

दिवोदास ने देवी को प्रणाम किया। मंजु ने भी वैसा ही किया। एक यमदूत ने तब बड़ा सा पात्र दिवोदास के होठों से लगाते हुए कहा—"पीजा अधर्मी, महामाया का प्रसाद है।"

"मैं मद्य नहीं पीता।"

"अरे अधर्मी, यह मद्य नहीं है, देवी का प्रसाद है, पी।" दो यम दूतों ने जबर्दस्ती वह सारा मद्य दिवोदास के पेट में उड़ेल दिया। भय से अभिभूत हो मंजु ने भी मद्य पी ली। तब उन यमदूतों ने उन दोनों को बलियूथ से कसकर बाँध दिया। फिर बड़बड़ा कर मन्त्र पाठ करने लगे।

मंजु ने लड़खड़ाती वाणी से कहा—"प्यारे, मेरे कारण तुम्हें यह दिन देखना पड़ा।"

"प्यारी, इस प्रकार मरने में मुझे कोई दुःख नहीं?"

"परन्तु स्वामी, हम फिर मिलेंगे।"

"जन्म-जन्म में हम मिलेंगे—प्रिये—प्राणाधिके।"

इसी समय कापालिक ने आकर कहा—"प्राणियों, आज तुम्हारा अहोभाग्य है, तुम्हारा शरीर देवार्पण होता है।" उसने रक्त से भरा पात्र उठाकर थोड़ा रक्त उनके मस्तक पर छिड़का—फिर उनके माथे पर रक्त का टीका लगाया। एक दैत्य ने झटका देकर उनकी गर्दनें झुकायीं। उन पर कापालिक ने स्वस्ति का चिह्न बना दिया। उसके बाद उन दैत्यों ने सिन्दूर से बध्य-भूमि पर भैरवी-चक्र की रचना की। एक दैत्य भारी खाण्डा ले दिवोदास के पीछे जा खड़ा हुआ।

मंजु ने साहस करके चिल्ला कर कहा—"अरे पातकियों, पहिले मेरा बध करो, मैं अपनी आँखों से पति का, कटा सिर नहीं देख सकती।"

कालापिक ने एक बड़ा सा मद्य पात्र मुँह से लगाया और गटागट पी गया। फिर उसने गर्जकर वार करने की आज्ञा दी।

परन्तु इसी क्षण एक चमत्कार हुआ। ब्रह्म राक्षस का खाण्डा हवा में लहराता ही रहा। और उसका सिर कटकर पृथ्वी पर आ गिरा।

कापालिक क्रोध और भय से थरथरा उठा। उसने कहा—"अरे, किसने महामाया की पूजा भङ्ग की ?"

सुखदास ने रक्त भरा खड्ग हवा में नचाते हुए कहा—"मैंने, रे पातकी। अभी तेरा धड़ भी शरीर से जुदा करता हूँ।"

इसी बीच में वृद्ध ग्वाले ने दिवोदास और मंजु के बन्धन खोल दिए। मुक्त होते ही दिवोदास ने झपट कर खाडा उठा लिया। उसने कापालिक पर तूफानी आक्रमण किया। परन्तु कापालिक में बड़ा बल था। उसने खाड़े सहित दिवोदास को उठाकर दूर पटक दिया। इसी समय सुखदास का खड्ग उसकी गर्दन पर पड़ा। और वह वहीं लड़खड़ा कर गिर गया। वृद्ध ने भी एक यमदूत को भूमिशायी किया। शेष दो प्राण लेकर भाग गए। दिवोदास घाव खा गये थे। सुखदास ने हाथ का सहारा दे दिवोदास को उठाया। और बोला—"साहस करो भैया, यहाँ से भाग चलो।"

दिवोदास ने कन्धे पर मंजु को लाद लिया। दोनों व्यक्ति नंगी तलवार लिये साथ चले। वर्षा अब बन्द हो गई थी—आकाश स्वच्छ हो गया था। वे बराबर उत्तराभिमुख होते जा रहे थे। मद्य के प्रभाव से मंजु मूर्छित हो गई थी। दिवोदास के भी पाँव लड़खड़ा रहे थे। परन्तु वह साथियों के साथ भागा जा रहा था। मंजु उसके पीठ से खिसकी पड़ती थी। सुखदास उन्हें सहारा दे रहा था। इसी समय एक ओर से दस अश्वारोही सैनिकों ने उन्हें घेर कर बन्दी कर लिया सारा उद्योग विफल गया। बेचारों को बाँधकर ले चले। कहने को आवश्यकता नहीं-कि ये सिद्धेश्वर के सैनिक थे।

-:o:—

बन्दी गृह में

चारों अपराधियों का विचार हो रहा था। उच्च स्वर्ण-पीठ पर आचार्य वज्रसिद्ध, सिद्धेश्वर और काशीराज उपस्थित थे। सम्मुख चारों अपराधी रस्सियों से बँधे खड़े थे। पीछे तलवार लिए सैनिक खड़े थे। दर्शकों की बड़ी भारी भीड़ एकत्र थी।

मंजुघोषा ने करुण स्वर में चिल्लाकर कहा—

"आर्य पुत्र, इनसे कह दो कि हम धर्मतः पति पत्नी हैं। हमने देवता की साक्षी में विवाह किया है।"

"प्रिए अधीर मत हो। देखो तो ये भण्ड पाखण्डी क्या निर्णय करते हैं।" काशीराज ने कहा—भिक्षु, तुम क्या कहना चाहते हो।"

"महाराज, वह मेरी विवाहिता पत्नी है और मैं श्रेष्ठि धनञ्जय का पुत्र दिवोदास हूँ। मेरी यह पत्नी लिच्छवि राजनन्दिनी मंजुघोषा है।"

वज्रसिद्ध ने कहा—"शातं पापं, तूने मुझसे प्रवज्या ली है, तू ऐसा कहकर भिक्षु धर्म से च्युत होता है।"

मंजु ने कहा—"प्रियतम्, इनसे कह दो कि मैं तुम्हारे भावी पुत्र की माता हूँ, जो मेरे उदर में पोषण पा रहा है।"

सिद्धेश्वर—"तू देवार्पित देवादासी है। क्या तूने ऐसा पातक किया है? इससे तो देवाधिष्ठान ही कलंकित हो गया।"

मंजु – कलङ्कित किया मैंने या तुम जैसे धर्म ढोंगियों ने, जो जङ्गली पशु की भाँति खून के प्यासे हैं। तुम गाय की खाल ओढ़कर धर्म के

ठेकेदार बने बैठे हो। धर्म की आड़ में आखेट करने वाले पेशेवर अपराधी हो, क्या सब खोलकर कह दूँ ?"

सिद्धेश्वर—"महाराज, ये धर्मापराधी हैं। इनका विचार धर्मानुमोदित होना चाहिए, राजनियमानुसार नहीं। आप इसमें विक्षेप मत कीजिए, मैं इस दासी का प्रायश्चित् विधान करूँगा।"

फिर उसने सैनिकों से कहा—"अरे सैनिकों, इस दासी को अभी ले जाओ, मैं इसके पाप के प्रायश्चित् की समुचित व्यवस्था करूँगा।"

दिवोदास ने क्रोध से पैर पटक कर कहा—"कदापि नहीं महाराज, मैं आपको सावधान करता हूँ कि लिच्छविराज नन्दिनी का यदि बाल भी बाँका हो गया तो आपके राज्य का खण्ड-खण्ड हो जायगा।"

काशीराज—"युवक, तुम बड़े उद्धत प्रतीत होते हो, काशीराज की मर्यादा को यदि तुम नहीं जानते तो चुप रहो। उन्होंने वज्रसिद्ध की ओर दृष्टि करके कहा—"आचार्य, आपके भिक्षु ऐसा ही विनय सीखते हैं ?"

वज्रसिद्ध ने कहा—"महाराज, मैं उसका धर्मानुशासन करूँगा, अरे भिक्षुओं ! उस उन्मत्त भिक्षु को ले जाओ।" फिर उसने काशीराज से कहा—"महाराज, अब आप यज्ञ सम्पूर्ण कीजिए। कामना करता हूँ कि उसमें बाधा न उपस्थित हो।"

दिवोदास को भिक्षुगण बाँधकर एक ओर तथा मंजु को सैनिक दूसरी ओर ले चले, तो मंजु ने कहा—"प्राणनाथ, नदी तीर की वह प्रतिज्ञा याद रखना।"

दिवोदास ने कहा—"उसे जीते जी नहीं भूलूँगा।"

"तुम्हें आना होगा, कहो आओगे ?"

"आऊँगा प्रिये, आऊँगा।"

"तो मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगी।"

"मैं प्राणों पर खेलकर भी आऊँगा।"

दोनों को दो भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींचकर ले जाया गया। सुखदास और वृद्ध ग्वाला रह गए। सुखदास ने कहा—"मैं भी भिक्षु हूँ, मेरा धर्मानुशासन आचार्य करेंगे।"

आचार्य ने कहा—इन दोनों अपराधियों को भी महाराज मेरे ही सुपुर्द कर दें।

काशीराज ने स्वीकार किया। आचार्य उठकर चल दिए। आवास पर आने पर सुखानन्द ने उनसे कहा—"मैं एक आवश्यक निवेदन एकान्त में करना चाहता हूँ।" आचार्य ने एकान्त में ले जाकर कहा—"क्या करना चाहते हो तुम?"

"आचार्य, मैं निरपराध हूँ, और यह वृद्ध भी।"

"तू निरपराध कैसे है?"

"आचार्य के विरुद्ध सिद्धेश्वर महाराज ने जो षड्यन्त्र रचा था—मैं उसी की छानबीन कर रहा था, आचार्य! मुझे अपना कार्य करने दीजिए।"

"कौन-सा कार्य।"

"आचार्य उस देवदासी को यहाँ से ले जाना चाहते हैं न!"

"चाहता तो हूँ।"

"पर सिद्धेश्वर की उस पर कुदृष्टि है।"

"यह मैं देख चुका हूँ।"

"परन्तु मैं उसे यहाँ से उड़ा ले चलूँगा।"

"किस प्रकार?"

"यह मुझपर छोड़ दीजिए आचार्य।"

"किन्तु धर्मानुज जो है।"

"वह तो आपके अधीन है आचार्य, वह कर क्या सकता है।"

"और यह बूढ़ा मूर्ख कौन है?"

"एक गँवार है आचार्य, लोभ-लालच देकर अपनी सहायता के लिए रख लिया है।"

"तो तुम दोनों को मुक्त करता हूँ, कार्य करो।"

"किन्तु आचार्य, केवल मुक्ति ही नहीं। स्वर्ण भी चाहिए।"

"स्वर्ण भी ले भद्र, पर उस दासी को निकाल ले चल।"

"यह कौन-सी बड़ी बात है। कह दूँगा, मैं उस भिक्षु का सन्देश-वाहक हूँ, उसी ने तुझे बुलाया है। हँसती-खेलती चली आएगी। उसने मुझे उसके साथ देखा भी है।"

"इसके बाद?"

"इसके बाद जैसा आचार्य चाहें।"

"तो भद्र, तू चेष्टा कर।"

"आचार्य, मुझे इस मूर्ख धर्मानुज से भी मिलते रहने की अनुमति दी जाय।"

"किसलिए?"

"उसे बहका-फुसलाकर एक पत्र उस दासी के नाम लिखा सकूँ तो कार्य जल्द सिद्ध होगा।"

"तो तुझे स्वतन्त्रता है।"

"आचार्य, फिर तो काम सिद्ध हुआ रखा है।" वह सिर हिलाता हुआ वृद्ध चरवाहे के साथ एक ओर को रवाना हो गया।

—:o:-

प्रसव

कई मास तक काशीराज का यज्ञानुष्ठान चलता रहा। इस बीच मंजु और देवी सुनयना अन्धकूप में पड़े रहे। उन्हें बाहर निकालने का सुयोग सुखदास को नहीं मिला। परन्तु सुखदास उनसे तथा बन्दी दिवोदास से भी मिलता रहा। और ज्योंही यज्ञ समाप्त हुआ, तथा आचार्य वज्रसिद्ध काशी से विदा हुए, सुखदास की युक्ति और उद्योग से मंजु और देवी सुनयना अन्धकूप से मुक्त होकर भाग निकलीं। परन्तु इस विपत्ति में एक दूसरी विपत्ति आ खड़ी हुई। मंजु को प्रसव वेदना होने लगी। देवी सुनयना ने सुखदास से कहा—अब तो कहीं आश्रय खोजना होगा। चलना सम्भव ही नहीं है। निरुपाय मंजु को एक वृक्ष के नीचे आश्रय दे सुखदास और वृद्ध चरवाहा दोनों ही आहार और आश्रय की खोज में निकले। परन्तु इस बीच ही में मंजु शिशु-प्रसव करके मूर्छित हो गई। यह दशा देख देवी सुनयना घबरा गईं। उन्होंने साहस करके शिशु की परिचर्या की तथा मंजु की जो भी सम्भव सुश्रुषा हो सकती थी, करने लगी। मंजु की दशा बहुत खराब हो रही थी। थकान-भूख और शोक से वह पहिले ही जर्जर हो चुकी थी, अब इतना रक्त निकल जाने से उसके मुँह पर जीवन का चिह्न ही न रहा। सुनयना यह देख डर गई। उसने यत्न से उसकी मूर्छा दूर की। होश में आकर मंजु एकटक माँ का मुँह देखने लगी। फिर बोली—"माँ, अब उनके दर्शन तो न हो सकेंगे?"

"क्यों नहीं बेटी।"

"उन्होंने कहा था—जब पुत्र का जन्म हुआ—तब मैं आऊँगा।"

कुछ रुककर पुनः बोली—"पर उनके आने के पहले तो हमी वहाँ चल रहे हैं।"

"नहीं जानती माँ, मैं कहाँ जा रही हूँ, किन्तु मेरा एक अनुरोध रखो माँ।"

"कह बेटी।"

"यदि मेरी मृत्यु हो जाय, और वे न आयें तो, जैसे बने, बच्चे को उनके पास अवश्य पहुँचा देना। और यह सन्देश भी कि तुम्हारे आने की आशा में मंजु अब तक जीवित रही, अब तुम्हारे निराश प्रेम का ✓ फूल तुम्हारे लिए छोड़ गई।"

"बेटी, इतना धीरज न छोड़ो।"

"माँ! कदाचित् यह अस्तगत सूर्य की स्वर्ण-किरण मेरी मुक्ति का सन्देश लाई है।"

"अरी बेटी ऐसी अशुभ बात मत कहो, तुम फलो-फूलो। और मैं इन आँखों से तुम्हें देखूँ। इसीलिए न मैंने अब तक अपने जीवन का भार ढोया है।"

"माँ, मैं बहुत जी चुकी, बहुत फली-फूली, और मैंने संसार को अच्छी तरह देखभाल लिया। मेरा जीवन उस फूल की भाँति रहा, जो सूर्य की किरणों को छूकर खिल उठा, और फिर उसी के तेज में झुलसकर सूख गया।"

सुनयना रोने लगी। मंजु ने कहा—"माँ, दुखी न हो, इस फूल की पंखुड़ियाँ झर जायेंगी, और झंझा वायु उन्हें उड़ाकर कहाँ की कहाँ ले जाएगी। आह! सूर्य आज भी अस्त हो गया। वे न आए, न आए। अन्धकार बढ़ा चला आ रहा है। यह जैसे मेरे जीवन पर पर्दा डाल देगा। कदाचित् मेरे जीवन-दीपक के बुझने का समय आ गया।"

वह मूर्छित होकर निर्बल हो गई। सुनयना ने घबराकर कहा—"मंजु, मंजु, आँखें खोलो बेटी, इस फूल से सुकुमार बच्चे को देखो।"

मंजु ने आँखें खोलकर टूटे-फूटे स्वर में कहा—"नहीं आए, इस अपने नन्हें को देखने भी नहीं आये। आह! कैसा प्यारा है नन्हा, आनन्द की स्थायी मूर्ति, माँ, उसे मेरे और पास लाओ।"

"वह तो तुम्हारे पास ही है बेटी।"

"और पास, और पास, और, और...वह बेसुध हो गई।" फिर उसने आँख खोलकर बच्चे को देखकर कहा—"वैसी ही आँखें हैं, वैसे ही होठ", उसने मुँह चूम लिया। और हृदय से लगा लिया।

इसके बाद ही उसकी आँखें पथरा गईं। और चेहरा सफेद हो गया। श्वांस की गति भी रुक गई। सुनयना देवी धाड़ मार कर रो उठीं। उन्होंने कहा—"आह, मेरी बेटी, तू तो बीच मार्ग में ही चली—मेरी सारी तपस्या विफल हो गई।"

परन्तु देवी सुनयना को इस विपत्काल में रोकर जी हलका करने का अवसर भी नहीं मिला। उन्हें निकट ही अश्वरोहियों के आने का शब्द सुनाई दिया। अब वह क्या करे? उसका ध्यान बच्चे पर गया। उसे उठाकर उन्होंने अपनी छाती से लगा लिया। एक बार उन्होंने मंजु के निमीलित नेत्रों की ओर देखा। घोड़ों की पदध्वनि निकट आ रही थी। उसे मंजु का अनुरोध याद आया। और हृदय में साहस कर उन्होंने अपना संकल्प स्थिर किया। उन्होंने कहा—'विदा बेटी, तुझे मैं माता वसुन्धरा को सौंपती हूँ, और तेरा अनुरोध पालन करने जा रही हूँ।' उन्होंने वस्त्र से मंजु का मुँह ढाँप दिया और बालक को छाती से लगाकर एक ओर चलकर अन्धकार में विलीन हो गई।

-:०:-

दुस्सह सम्वाद

दिवोदास को संघाराम के गुप्त बन्दी गृह में लाकर रक्खा गया। उस बन्दीगृह में ऊपर छत के पास केवल एक छेद था, जिसके द्वारा भोजन और जल, बन्दी को पहुँचा दिया जाता था। उसी छेद द्वारा चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणें बन्दीगृह में आ रही थीं। उसी को देखकर दिवोदास कह रहा था—"आह कैसी प्यारी है, यह चन्द्रकिरण प्यारी की मुस्कान की भाँति उज्ज्वल और शीतल ?" उसने पृथ्वी पर झुककर वह स्थल चूम लिया—"बाहर चाँदनी छिटक रही होगी। रात दूध में नहा रही होगी। परन्तु मेरा हृदय इस बन्दीगृह के समान, अन्धकार से परिपूर्ण है।"

वह दोनों हाथों से सिर थाम कर बैठ गया। इसी समय एक खटका सुनकर वह चौंक उठा। बन्दीगृह का द्वार खोलकर पहरेदार ने आकर कहा—"यह स्त्री तुमसे मिलना चाहती है, परन्तु जल्दी करना। भन्ते, मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं करूँगा।"

काले वस्त्रों में आवेष्टित एक स्त्री उसके पीछे थी, उसे भीतर करके प्रहरी ने बन्दीगृह का द्वार बन्द कर लिया।

दिवोदास ने कहा—"कौन है ?"

"यह अभागिनी सुनयना है।"

"माँ, तुम आई हो ?"

"बड़ी कठिनाई से आ पाई हूँ दिवोदास, तुम न आ सके न !"

"न आ सका, किन्तु मेरा पुत्र ?"

"पुत्र प्रसव हुआ, किन्तु तुम भूठे हुए बेटे।"

"हाँ माँ, मंजु से कहो, वह मुझे दण्ड दे।"

"उसने दण्ड दे दिया, बच्चे।"

"तो माँ, मैं हँसकर सह लूँगा, कहो क्या दण्ड दिया है ?"

"सह न सकोगे ?"

"ऐसा दण्ड है ?"

"हाँ पुत्र।"

"नहीं, हो नहीं सकता, मंजु मुझे दण्ड दे और मैं सह न सकूँ ? सहकर हँस न सकूँ तो मेरे प्यार पर भारी कलङ्क होगा माँ।"

"कैसे कहूँ ?"

"कहो माँ ?"

"सुन न सकोगे।"

"कहो-कहो।"

"उसने अपने प्राण दे दिए।"

"प्राण दे दिए ?" दिवोदास ने पागल की भाँति चीत्कार किया।

"हाँ पुत्र, हम बन्दीगृह से मुक्त होकर भागे आ रहे थे। मार्ग ही में उसने एक वृक्ष के नीचे पुत्र को जन्म दिया, और फिर मुझसे एक अनुरोध करके वह विदा हुई।"

"क्या अनुरोध था माँ।"

"यही, कि यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो मेरे पुत्र को उन तक पहुँचा देना।"

"तो मेरा पुत्र ?"

"वह मैंने खो दिया।"

"खो दिया ?"

"राह में मैं भूख और प्यास से जर्जर हो सो गई। जब आँख खुली

तो शिशु न था, कौन जाने उसे कोई वनपशु उठा ले गया या..." सुनयना आगे कुछ न कह कर फूट-फूट कर रो उठी।

"मेरे पुत्र को तुमने खो दिया माँ, और उसने प्राण दे दिए!! खूब हुआ।" दिवोदास अट्टहास करके हँसने लगा। "हा, हा, हा, प्राण दे दिए, खो दिया।" उसने फिर अट्टहास किया और काष्ठ के कुन्दे की भाँति अचेत होकर भूमि पर गिर गया।

इसी समय प्रहरी ने भीतर आकर कहा—"बस अब समय हो गया। बाहर आओ।" देवी सुनयना संज्ञाहीन सी बाहर आई और एक वृक्ष के नीचे भूमि पर पड़ गई।

प्रेमोन्माद

दिवोदास पागल हो गया है। यह सन्देश पाकर आचार्य ने उसे बन्दी गृह से मुक्त कर दिया। अब वह निरीह भाव से संघाराम में घूमने लगा। कोई उससे घृणा करता, कोई उस पर दया करता। उसके वस्त्र और शरीर गन्दे और मलिन हो गए थे। दाढ़ी बढ़कर उलझ गई थी। भिक्षु उसकी खिल्ली उड़ाते थे। कुछ उसे चिढ़ा देते थे। परन्तु दिवोदास इन सब बातों पर ध्यान ही नहीं देता था। वह जैसे किसी अतीत काल में जीवित रह रहा था।

दिवोदास अति उदास, गहरी चिन्ता में पागल जैसा एक शिलाखण्ड पर बैठा था। वह कभी हँसता, कभी गुनगुनाता था। उसके हाथ में एक गेरू का टुकड़ा था, उससे वह जल्दी-जल्दी मंजुघोषा का चेहरा बना रहा था, चेहरा बना कर हँसता था, उसे प्यार करता था, उससे बातें करता था, एक वृक्ष को लक्ष्य करके उन्मत्त भाव से देखता था। वहाँ उस वृक्ष में उसे मंजुघोषा दृष्टि पड़ रही थी।

दिवोदास—हाथ फैलाकर दीन भाव से बोल उठा—आओ देखो—प्यारी, आओ, मुझे क्षमा करो, मैं नहीं आ सका। उसने देखा—मूर्ति मुस्कराने लगी। उसके होठ हिलने लगे और दो बूँद आँसू उसकी आँखों से टपक पड़े। उसने उँगली उठा कर कहा—"झूठे"। पागल दिवोदास उससे लिपटने को दौड़ा और टकरा कर गिर पड़ा। मूर्ति गायब हो गई। उसने उठ कर कहा—आह ? झूठा, झूठा, सचमुच मैं झूठा हूँ। उसने

सामने एक शिला खण्ड की ओर देखा। वहाँ मंजु बैठी मुस्कुरा रही थी। वह दौड़ा, मूर्ति उसी भाव से वही शब्द कहती हुई गायब हो गई। दिवोदास पत्थर से टकरा कर फिर गिर पड़ा। फिर उठ कर 'मंजु-मंजु' चिल्लाने लगा। जिस वस्तु पर उसकी नजर जाती, वहीं उसे मंजु की मूर्ति वही संकेत करके, वही शब्द कह कर गायब हो जाती। वह पागल की तरह दौड़ता और टक्करें खाकर गिरकर घायल हो जाता। वह क्षत-विक्षत और जर्जर हो गया। उसी समय आचार्य वज्रसिद्ध उसके निकट आए।

वज्रसिद्ध कुछ देर उसकी दुर्दशा देख बोले—"पुत्र, यह तुम क्या कर रहे हो?"

दिवोदास ने आँखें फाड़ कर बड़ी देर तक वज्रसिद्ध को देखा और वज्रसिद्ध के निकट आकर कहा—'प्रिय मंजु' क्या तुमने मुझे क्षमा कर दिया!' और वह वज्रसिद्ध से लिपट गया।

वज्रसिद्ध ने उसे पीछे धकेल कर कहा—"भिक्षु सावधान! देखो, मैं संघस्थविर आचार्य वज्रसिद्ध हूँ।"

दिवोदास आचार्य को देख कर, काँपता हुआ हट कर खड़ा हो गया और कहा—"आचार्य वज्रसिद्ध, क्या तुम मंजु का सन्देश लाए हो? क्या वह आ रही है?"

"भिक्षु, तुम पागल हो गए हो।"

"पागल, प्रेम का पागल, मैं पागल हो गया हूँ!"

(कठोर वाणी से) "मेरे साथ आओ।"

"क्या तुम मुझे मंजु के पास ले जा रहे हो?"

"आओ।"

वज्रसिद्ध ने उसे अपने पीछे आने का संकेत किया। और चल दिया। दिवोदास भी पीछे-पीछे चल दिया। वह वज्रतारा के मन्दिर में

।

वज्रसिद्ध ने वज्रतारा की प्रतिमा के आगे पहुँच, दिवोदास की ओर कड़ी दृष्टि से देखा और कहा—"भिक्षु, वज्रतारा को प्रणाम करो।"

दिवोदास ने प्रतिमा में भी मंजु की वही मूर्ति देखी, और कहा—"प्यारी, तुम आ गईं? आओ। मैं नहीं आ सका। इससे क्या तुम नाराज हो?" वह दौड़ कर मूर्ति से लिपट गया।

"सुनो! सुनो!!"

"सब सुन रहा हूँ। वह कुछ कह रही है। वह कुछ कहना चाहती है।" वह ध्यान से फिर प्रतिमा को देखने लगा। उसे प्रतीत हुआ मंजु, कुछ संकेत कर रही है, दिवोदास ने उधर हाथ फैला दिए।

वज्रसिद्ध ने दिवोदास को झकझोर कर कहा—"सुनो, तुम्हें वज्रतारा की मूर्ति बनानी होगी। हमें मालूम हुआ है, तुम कुशल चित्रकार हो गए हो

दिवोदास ने भाव निमग्न सा होकर कहा—"मैं अभी प्यारी की बनाता हूँ।"

उसने झट क्षण भर में गेरू से दीवार पर मंजु की ठीक सूरत बना दी। और फिर रो-रो कर कहने लगा—'क्षमा करो, मंजु, प्रिये, क्षमा करो।'

वज्रसिद्ध ने क्रुद्ध होकर कहा—'तुम्हें वज्रतारा की मूर्ति बनानी होगी। इसके लिए दो मास तक तुम्हें एकान्त में रहना होगा।"

उन्होंने एक भिक्षु से कहा—'गोपेश्वर, तुम इसको सब व्यवस्था समझा कर, सब प्रबन्ध कर दो।' इतना कह आचार्य चले गए।

—:०:—

प्रतिमा

दिवोदास की छेनी खटाखट चल रही थी। भूख प्यास और शीत-ताप उसे नहीं व्याप रहा था। अपने शरीर की उसे सुध नहीं थी। वह निरन्तर अपना काम कर रहा था। छेनी पर हथौड़े की चोटें पड़ रही थीं, और शिलाखण्ड में से मंजु की मूर्ति विकसित होती जा रही थी। वह सर्वथा एकान्त स्थल था। वहाँ किसी को भी आने की अनुमति न थी। वह कभी गाता, कभी गुनगुनाता, कभी हँसता और कभी रोता था। कभी करुण स्वर में क्षमा माँगता—कभी मूर्ति से लिपट जाता। उसकी तन्मयता, तन्मयता की सीमा को पार कर गई थी। जैसे वह मूर्ति में मूर्तिमय हो चुका हो।

मूर्ति बन कर तैयार हो गई। दिवोदास के शरीर में केवल हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। उसके दाढ़ी और सिर के बालों ने उलझ कर उसकी सूरत भूत के समान बना डाली थी। परन्तु उस एकान्त अनुष्ठान में कोई उसके पास नहीं आ पाता था।

वह बड़ी देर तक मूर्ति के मुख को एकटक देखता रहा। वह मुँह हूबहू मंजु का मुँह था।

उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह मुँह मुस्कुरा रहा है। उसे उसके ओठ हिलते दीख पड़े। उसने जैसे सुना कि उन ओठों में से एक शब्द बाहर हुआ 'झूठे'। उसकी आँखों में आँसू भर आए। उसने मूर्ति के पैरों में गिर कर कहा—मुझे क्षमा करो मंजु, मैं नहीं आ सका। पर तुमने मेरा

पुत्र भी तो खो दिया, दिवोदास कोप कर धरती पर गिर गया। और अंत में द्वार तोड चिल्लाता हुआ गहन वन में भाग गया !

वज्रतारा पूजा महोत्सव पर्व था। सहस्त्रों भिक्षु एकत्रित थे। संघाराम विविध भाँति सजाया गया था। दूर-दूर से श्रद्धालु श्रावक, गृहस्थ और श्रेष्टिजन आए थे। बीच प्राङ्गण में स्वर्ण-मण्डित रथ था। उस पर वस्त्र में आवेष्टित वज्रतारा की मूर्ति थी। आचार्य वज्रसिद्ध बड़े व्यस्त थे। उन्होंने व्यग्रभाव से कहा—"क्या अभी तक धर्मानुज का कोई पता नहीं लगा ?"

"नहीं आचार्य, चारो ओर गुप्तचर उसे खोजने गये हैं।"

"परन्तु पूजन तो नियमानुसार वह कर सकता है जिसने मूर्ति बनाई है—अतः उसका अनुसन्धान करो। मुहूर्त में अब देर नहीं है। आज्ञा होने पर और भी चर भेज दिए गए।"

दिवोदास अति दयनीय अवस्था में भूख प्यास से व्याकुल, अर्धमृत सा हो एक शिलाखण्ड पर अचेत पड़ा था। उसी समय चरों ने वहाँ पहुँच कर उसे देखा। उसे चेत में लाने की बहुत चेष्टा की, परन्तु उसकी मूर्छा भङ्ग न हुई। निरुपाय हो चर उसे पीठ पर लादकर संघाराम में ले आए। सन्घाराम के चिकित्सकों ने उसका उपचार किया। उपचार से तथा थोड़ा दूध पीने से वह कुछ चैतन्य हुआ। परन्तु उसकी संज्ञा नहीं लौटी।

बाहर बहुत कोलाहल हो रहा था। सहस्रों भिक्षु और भावुक भक्त चिल्ला रहे थे। डफ-मृदङ्ग-मीरज बज रहे थे। सारा प्राङ्गण मनुष्यों से भरा था। महाराज श्री गोविन्द पालदेव आ चुके थे। उन्होंने अधीर होकर कहा—"आचार्य, अब पूजन अनुष्ठान प्रारम्भ हो।"

आचार्य ने चिन्तित स्वर में कहा—"भिक्षु धर्मानुज को यहाँ लाओ। वह विधिवत पूजन करे।"

कुछ भिक्षु उसे पकड़ कर ले आए। वह गिरता पड़ता आकर मूर्ति

के सम्मुख खड़ा होकर हँसने लगा। इसी समय मूर्ति का आवरण उठाया गया। मूर्ति के मुख पर दिवोदास ने दृष्टि डाली। उसे प्रतीत हुआ जैसे—मूर्ति मुस्कुरा रही है। उसने फिर देखा मूर्ति ने दो उँगली ऊपर उठा कर कहा—"झूठे।" उसने स्वयं वह शब्द सुना स्पष्टतया। उसने मूर्ति के ओठों को हिलते देखा। यह देखते ही दिवोदास मूर्छित होकर मूर्ति के चरणों में गिर गया। अनुष्ठान खण्डित हो गया। आचार्य वज्रसिद्ध असंयत होकर उठ खड़े हुए। सहस्र-सहस्र भिक्षु—'नमो अर्हन्तायनमो बुद्धाय' चिल्ला उठे। आचार्य ने उच्च स्वर से कहा—"इस विक्षिप्त भिक्षु को भीतर ले जाओ। मैं स्वयं अनुष्ठान सम्पूर्ण करूँगा।"

परन्तु इसी समय मेघ गर्जन के समान एक आवाज आई—"ठहरो।"

सहस्रों ने देखा। एक भव्य प्रशान्त मूर्ति धीर स्थिर गति से चली आ रही है। उसके पीछे सुनयना वस्त्र में कुछ लपेटे हुए आयीं हैं। उनके पीछे सुखदास और वही वृद्ध ग्वाला है। लोगों ने देखा, उसी सौम्य मूर्ति के साथ महा श्रेष्ठि धनञ्जय भी हैं।

सौम्य मूर्ति सब के देखते-देखते वेदी पर चढ़ गई। उसने प्रतिमा के सिर पर हाथ रखा। हाथ रखते ही प्रतिमा सजीव हो गई। वह हिलने लगी। प्रतिमा में सजीवता के लक्षण देख सहस्रों कण्ठ 'भगवती वज्रतारा की जय' चिल्ला उठे। प्रतिमा ने हाथ उठाकर सब को शान्त और चुप रहने का सङ्केत किया।

क्षण भर ही में सन्नाटा हो गया। मूर्ति ने वीणा की झङ्कार के समान मोहक स्वर में कहा—"मूढ़ भिक्षुओं, तुम जानते हो कि धर्म क्या है?"

सहस्रों कण्ठों ने विस्मित होकर कहा—"माता, आप हमें धर्म की दीक्षा दीजिए।"

मूर्ति ने कहा—"मनुष्य के प्रति मनुष्यता का व्यवहार करना सबसे बड़ा धर्म है, संसार को संसार समझना धर्म का मार्ग है।"

सहस्रों कण्ठों से निकला—"मातेश्वरी वज्रतारा की जय हो।"

मूर्ति ने फिर वज्रसिद्ध की ओर उँगली से संकेत करके कहा—"यह धर्मढोंगी पुरुष, लाखों मनुष्यों को धर्म से दूर किए जा रहा है। मैं इस पाखण्डी का बध करूँगी।" मूर्ति ने सहसा खड्ग ऊँचा किया। जनपद स्तब्ध रह गया। भिक्षु गण चिल्ला उठे—

"रक्षा करो, देवी, रक्षा करो।"

वज्रसिद्ध अब तक विमूढ़ बना खड़ा था। अब उसने मूर्ति के रूप में मंजु को पहचान कर कहा—"यह देवी वज्रतारा नहीं है। यह पापिष्ठा धूर्त पापेश्वर के मन्दिर की अधम देवदासी मंजुघोषा है, इसे बाँध लो।"

मंजु ने कहा—"वही हूँ, और तुमसे पूछती हूँ, कि तुम मनुष्य को मनुष्य की भाँति क्यों नहीं रहने देना चाहते?"

वज्रसिद्ध ने फिर गर्ज कर कहा—"बाँधो, इस पापिष्ठा को।"

जनता में कोलाहल उठ खड़ा हुआ। सहस्रों भिक्षु रथ पर टूट पड़े।

अब उस भव्य सौम्य पुरुष-मूर्ति ने हाथ उठा कर कहा—"सब कोई जहाँ हो—वहीं शान्त खड़े रहो।"

इस बार फिर सन्नाटा हो गया। उसी भव्य मूर्ति ने उच्च स्वर से पुनः कहा—"मैं ज्ञानश्री मित्र हूँ। तुम्हें शान्त रहने को कहता हूँ।"

आचार्य ज्ञानश्री मित्र का नाम सुनते ही—सहस्र-सहस्र सिर पृथ्वी पर झुक गये। महाराज गोविन्दपाल देव ने उठकर साष्टाङ्ग दण्डवत किया। लोग आश्चर्य विमुग्ध उस महापुरुष को देखने लगे जिसका दर्शन पाना दुर्लभ तथा जो त्रिकालदर्शी प्रसिद्ध था।

आचार्य ने देवी सुनयना को संकेत किया। उन्होंने वस्त्र में आवेष्टित बालक को मंजु की गोद में दे दिया। मंजु ने खड्ग रखकर बालक के

छाती से लगाकर कहा—"यह मेरा पुत्र है, जिसे वे अभागे धर्म-पाखण्डी पाप का फल कहते हैं, जिनके अपने पाप ही अगणित हैं।"

भिक्षुओं में फिर क्षोभ उठ खड़ा हुआ।

आचार्य ज्ञान ने मेघ गर्जन के स्वर में कहा—"भिक्षुओं, शान्त रहो। फिर उन्होंने दिवोदास के मस्तक पर हाथ रखकर कहा—"उठो श्रेष्ठि पुत्र।"

दिवोदास जैसे गहरी नींद से जग गया हो। उसने इधर-उधर आश्चर्य से देखा—फिर पुत्र को गोद में लिए मंजु को सम्मुख मुस्कुराती खड़ी देखकर, बारम्बार आँख मलकर कहा—"यह मैं क्या देख रहा हूँ—स्वप्न है या सत्य।"

"सब सत्य है, प्राणाधिक, यह तुम्हारा पुत्र है, इसका चन्द्रमुख तो देखो।"

दिवोदास का लुप्त ज्ञान पीछे लौट रहा था—उसने भुन-भुनाकर कहा—'कैसी मीठी भाषा है, कैसे ठण्डे शब्द हैं, अहा, कैसा सुख मिला, जैसे कलेजे में ठण्ढक पड़ गई।"

मंजु ने कहा—"प्यारे, प्राणेश्वर, इधर देखो। उसने दिवोदास का हाथ पकड़ लिया। दिवोदास का उस स्पर्श से चैतन्य जाग उठा—उसने कहा—"क्या, क्या, तुम हो—सचमुच ? तो यह स्वप्न नहीं है ?" वह फिर आँखें मलने लगा।

मंजु ने कहा—स्वामिन्, आर्य पुत्र, यह तुम्हारा पुत्र है, लो।

"मेरा पुत्र ?" उसने दोनों हाथ फैला दिए। पुत्र को लेकर उसने छाती से लगा लिया।

वज्रसिद्ध ने एक बार फिर अपना प्रभाव प्रकट करना चाहा। उसने ललकार कर कहा—"भिक्षुओ, इन धर्म-विद्रोहियों को बाँध लो।

भिक्षुओं ने एक बार फिर शोर मचाया। वे रथ पर टूट पड़े। दिवोदास ने रोकना चाहा—परन्तु वह धक्का खाकर गिर गया।

सहसा महाराज गोविन्दपाल देव ने खड़े होकर कहा—"जो जहाँ है, वहीं खड़ा रहे।"

महाराज की घोषणा सुनते ही एक बार स्तब्धता छा गई। महाराज ने सेनापति को आज्ञा दी—"सेनापति इन उन्मत्त भिक्षुओं को घेर लो।" क्षण भर ही में सेना ने समस्त भिक्षु मण्डली को तलवारों की छाया में ले लिया। आतङ्कित होकर भिक्षु मन्त्रपाठ भूल गए। जनता भयभीत हो भागने की जुगत सोचने लगी।

वज्रसिद्ध ने क्रुद्ध होकर कहा—"महाराज यह आप अधर्म कर रहे हैं।"

महाराज ने कहा—"मैं यह जानना चाहता हूँ आचार्य, यह कैसा धर्म कार्य हो रहा है?"

"देव आप धर्म व्यवस्था में बाधा मत डालिए।"

"परन्तु मैं पूछता हूँ कि यह कैसी धर्म व्यवस्था है!"

"आप अपने गुरु का अपमान कर रहे हैं।"

"मेरी बात का उत्तर दें आचार्य, क्या आपने काशीराज से मिलकर मेरे विरुद्ध षड़यन्त्र नहीं किया? श्रेष्ठिराज धनञ्जय के धन को हड़पने के लिए उनके पुत्र को अनिच्छा से भिक्षु बनाकर उसे गुप्त यन्त्रणाएँ नहीं दी हैं? क्या आप लिच्छविराज के गुप्तधन को पाने का षड़यन्त्र नहीं रच रहे हैं।"

"देव, इन अपमानजनक प्रश्नों का मैं उत्तर नहीं दूँगा।"

"तो आचार्य वज्रसिद्ध, इन आरोपों के आधार पर मैं आपको आचार्य पद से च्युत करता हूँ—और बन्दी करता हूँ।" उन्होंने सेनापति से ललकार कर कहा—

"सेनापति इन्द्रसेन, वज्राचार्य और इनके सब साथियों को अपनी रक्षा में ले लो। तथा संघाराम और उसके कोष पर राज्य का पहरा बैठा दो। तुम्हारे काम में जो भी विघ्न डाले उसे बिना विलम्ब खड्ग से चार

टुकड़े करके संघाराम के चारो द्वारों पर फेंक दो!" सेनापति ने अपनी नङ्गी तलवार आचार्य के कन्धे पर रखी।

वज्रसिद्ध ने कहा—"भिक्षुओं, यह राजा पतित हो गया है। इसे अभी मार डालो।"

भिक्षुओं में क्षोभ उत्पन्न हुआ—सैनिक शस्त्र लेकर आगे बढ़े।

अब श्री ज्ञान ने दोनों हाथ ऊँचे करके कहा—"सावधान भिक्षुओं! यह श्री ज्ञान मित्र तुम्हारे सम्मुख खड़ा है। तुमने तथागत के वचनों का अनादर किया है। बन्धुप्रेम के स्थान पर रक्तपात, अहिंसा के स्थान पर माँसाहार, संयम के स्थान पर व्यभिचार और त्याग के स्थान पर लोभ ग्रहण किया है, जिससे तुम्हारे चारो भङ्ग हो गये हैं। तुमने भिक्षु वेश को कलङ्कित किया है, और तथागत के पवित्र नाम को कलुषित किया है। मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि अपने आचरणों को सुधारो, या भिक्षु वेश त्याग दो।"

सहस्र-सहस्र भिक्षु श्रीज्ञान के सम्मुख घुटनों के बल बैठ गए। महाराज ने कहा—"भिक्षुओं, तुम्हारे अनाचार की बहुत बातें मैंने सुनी हैं। प्रजा तुम्हारे अत्याचारों से तङ्ग है। तुम्हारे गुरु घण्टाल का भण्डाफोड़ हो गया है। मैं चाहता हूँ, भगवान श्री ज्ञान के आदेश का पालन करो। अपने-अपने स्थान को लौट जाओ।"

भिक्षुओं ने एक स्वर से महाराज और ज्ञानश्री मित्र का जय-जयकार किया। महाराज ने कहा—"श्रेष्टि धनञ्जय, आओ अपने पुत्र—पौत्र और पुत्रवधू को आशीर्वाद दो।"

धनञ्जय दौड़कर पुत्र से लिपट गया। दिवोदास ने पिता के चरणों में गिरकर अभिवादन किया। मंजु ने भी सबको प्रणाम किया और बच्चे को श्वसुर की गोद में दे दिया।

महाराज ने कहा—"श्रेष्टिराज, यह सौभाग्य तुम्हें भगवान श्रीज्ञान

की कृपा से मिला है। उन्होंने मंजुघोषा और उसके पुत्र की प्राण रक्षा की। और बड़े कौशल से मूर्ति के स्थान पर उसे प्रकट किया।"

सुनयना ने करबद्ध होकर कहा—"तो भगवन्! आप ही मेरे बच्चे के चोर हैं?"

"यह कार्य भी मुझ वीतराग पुरुष को करना पड़ा। जब मंजु को मैंने जङ्गल में असहाय वृक्ष के नीचे मूर्छितावस्था में पड़ा देखा, तो उसे मैं अपने आश्रम में उठा लाया। उपचार से वह स्वस्थ हुई—तो बच्चे के लिए उसने बहुत आफत मचाई। मैं जानता था कि तुम राज़ी से बच्चा मुझे न दोगी। मञ्जु का जीवित रहना मैं तुम पर प्रकट करना नहीं चाहता था—इसी से चौर्य-कार्य मुझे करना पड़ा। अब बुद्धं शरणं।"

"भगवन्, मैं तो ऐसी अन्धी हो गई कि पुत्री को अरक्षित छोड़ कर भाग निकली, परन्तु मुझे बालक की रक्षा का विचार था।"

"यह सब भवितव्य था जो अकस्मात् हो गया।"

"किन्तु भगवन्, यहां मूर्ति के स्थान पर मंजु कैसे आ गई।"

"यह हमसे पूछिए"—सुखदास ने आगे बढ़कर कहा—"हम लोग जब स्थान आदि की सुव्यवस्था करके वृक्ष के निकट पहुँचे, तो वहाँ कोई न था। इससे हम बहुत व्याकुल हुए। सारा जङ्गल छान मारा। तब भगवान् के हमें दर्शन हुए। और जब मंजु को हमारी देख-रेख में छोड़ कर भगवान् बच्चा चुराने के लिये गये, तो हमने मिल कर यह योजना बना ली। फिर तो मूर्ति को अपने स्थान से हटा कर वहाँ मंजु को बैठा देना आसान था। परन्तु चमत्कार खूब हुआ!" यह कह कर सुखदास हँसने लगा। सभी लोग हँस दिए। सुखदास ने कहा—"इन महात्मा ने प्राणपण से मंजु की सेवा कर के प्राण बचाये। हमारी योजना न सफल होती यदि यह मदद न करते।" सुखदास ने वृद्ध ग्वाले की ओर संकेत किया।

ग्वाले ने चुपचाप सबको हाथ जोड़ दिए। आचार्य श्रीज्ञान ने कहा—

"यह सब विधि का विधान है लिच्छवि-राजमहिषी ?" राजा ने अकचका कर कहा—"यह आपने क्या शब्द कहा ! लिच्छवि राजमहिषी कौन !"

"महाराज, यह देवी सुनयना लिच्छविराज श्री नृसिंह देव की पट्ट-राजमहिषी कीर्ति देवी हैं, जिन्हें काशी राज ने छल से मार कर उनके राज्य को विध्वंस किया था। मंजुघोषा इन्हीं की पुत्री है।"

महाराज ने कहा—"महारानी, इस राज्य में मैं आपका स्वागत करता हूँ। और राजकुमारी, आपका भी। तथा कुमार को मैं वैशाली का राजा घोषित करता हूँ, और उनके लिए यह तलवार अर्पित करता हूँ जो शीघ्र काशी राज से उनका बदला लेगी।"

रानीने कहा—"हम दोनों—माता पुत्री कृतार्थ हुईं महाराज, आपकी जय हो। अब इस शुभ अवसर पर यह तुच्छ भेंट मैं दिवोदास को अर्पण करता हूँ।"

उसने अपने कण्ठ से एक तावीज निकालकर दिवोदास के हाथ में देते हुए कहा—"इसमें उस गुप्त रत्नकोष का बीजक है, जिसका धन ७ करोड़ स्वर्ण है।"

"पुत्र, मुझ अभागिन विधवा का यह तुच्छ दहेज स्वीकार करो।"

श्रेष्ठि धनञ्जय ने आगे बढ़ कर कहा—"महारानी, आपने मुझे और मेरे पुत्र को धन्य कर दिया।"

आचार्य श्री ज्ञान ने हाथ उठाकर कहा—"आप सबका कल्याण हो।" आज से मैं आचार्य शाक्य श्री भद्र को महाविहार का कुलपति नियुक्त करता हूँ। महाराज ने स्वीकार किया। और सबने आचार्य को प्रणाम किया और अपने गन्तव्य स्थान की ओर चले गए।

—:*:-

वज्रगुरु

आचार्य श्री शाक्य, श्री भद्र महायान के आचार्य थे। वे शून्यवाद के परम् पण्डित थे। उनके नाम और पाण्डित्य की बड़ी धूम थी। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पीठाधीश्वर हो जाने पर भी वज्र गुरुओं का गुट्ट विक्रमशिला से टूटा नहीं। यद्यपि आचार्य वज्रसिद्ध अब कुलपति नहीं रहे थे। पर वे वज्र गुरुओं के शिरोमणि थे। ये वज्र गुरु वैपुल्यवादी थे। और उनका सङ्गठन साधारण न था। उनके सामने आचार्य शाक्य श्रीभद्र की चलती नहीं थी। हकीकत तो यह थी कि जो हजारों लाखों तरुण-तरुणियां पीत-कफनी पहिन कच्ची उम्र ही में भिक्षु-भिक्षुणी हो जाते थे। उनकी कामवासना तो कायम ही रहती थी। किसी भी ज्ञान और उपदेश से वह दबती न थी। वह तो स्वस्थ शरीर का नैसर्गिक धर्म था। वैपुल्यवादी, एकाभिप्रायेण स्त्री-गमन कर सकते थे। वे गृहस्थों की भाँति मानव शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे-साधे सरल मार्ग द्वारा पूर्ण नहीं करते थे—वे तो 'एकाभिप्राय' की आड़ लेकर रहस्यपूर्ण शब्दजाल द्वारा सम्भोग क्रिया की 'सम्यक्-सम्बुद्ध' बनने के लिए वज्रगुरु की सहमति से स्त्री-सेवन कर सकते थे। वे किसी नीच जाति की युवती को मुद्रा बनाकर गुरु के निकट जाते और गुरु की आज्ञा से मिथुन योग करते थे। वज्रगुरु की आज्ञा से यह मैथुन-सेवन कामवासना की तृप्ति के लिए नहीं होता

था—सम्यक्-सम्बुद्ध और सिद्ध बनने के लिए होता था ये सब नियम गुह्य थे। और उसी से भैरवी-चक्र का जन्म हुआ।

के प्राचीन सुत्त बहुत लम्बे-लम्बे होते थे। उन्हें घोखने और याद करने में बहुत समय लगता था। इसलिये वैपुल्यवादियों ने छोटी-छोटी धारणियाँ बनाई थीं। उनके पाठ से भी वही प्राप्त होता था जो सूत्रों के पाठ से होता था। पर धारणियों को कण्ठ करने में भी दिक्कत पड़ती थी। इसलिए अब उनके स्थान पर मन्त्रों को रचा गया था। जिनमें अस्त-व्यस्त शब्द ही थे। जैसे ओं मुने मुने महामुने स्वाहा, अथवा—'ओं, आहुँ।' लोगों का विश्वास था कि इन मन्त्रों के जाप से अभिलषित फल प्राप्त होता है। मन्त्रशक्ति के इस विश्वास के साथ-साथ वे कुछ भोग की क्रियाओं को भी सीखते थे। वे समझते थे—कि इन क्रियाओं द्वारा शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इस समय बुद्ध को भी अलौकिक या अमानव माना जाता था। ये वज्र गुरु खान-पान रहन-सहन में आचार विचार का कोई विचार नहीं करते थे। उचित अनुचित, कर्तव्य अकर्तव्य का भेद सिद्ध पुरुषों में नहीं होता—यही लोग समझते थे। स्त्री मात्र से सम्भोग करना वे अपनी साधना में सहायक मानते थे। साथ ही मद्य-मांस का सेवन भी योग क्रियाओं के लिए आवश्यक था। ऐसा ही यह युग था जिसका केन्द्र विक्रमशिला-नालन्द और उदन्तपुरी के बिहार बने हुए थे। एक ओर इन विद्या-केन्द्रों में भाँति-भाँति के शास्त्र और विद्याएँ पढ़ाई जाती थीं जिसकी ख्याति देश-देशान्तरों में थी, तो दूसरी ओर ये धर्म पाखण्ड और अत्याचार चल रहे थे।

इस काल में सद् गृहस्थ, ब्राह्मणों और बौद्ध-भिक्षुओं का समान आदर सत्कार करते थे। शैवों-शाक्तों और वाम मार्गियों के कई अघोरी पन्थ भी थे, जिनसे गृहस्थ भयभीत रहते थे। पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का आरम्भ हुआ, बौद्ध उनकी

उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने उन्हें नए नामों से अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि नामों से अनेक देवी-देवताओं ने बौद्धधर्म में भी प्रवेश कर लिया था। कुछ तो इस कारण से, और कुछ तन्त्रवाद के प्रवेश से शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्धों को, परस्पर निकट ला दिया था। पौराणिकों ने बुद्धों को १० अवतारों में गिन लिया था। पालदेशी बौद्ध राजा थे—पर ब्राह्मणों को भी मानते थे। सातवीं शताब्दी ही में अनेक ऐसे पौराणिक पण्डितों ने जन्म लिया, जिन्होंने अपनी तर्क-शक्ति, और विद्वत्ता के प्रभाव से सबको चकाचौंध कर दिया। कुमारिल भट्ट और प्रभाकर के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शंकर भी एक असाधारण पुरुष थे। इनके कारण बौद्ध भिक्षुओं का प्रताप कम अवश्य पड़ गया था। पर बौद्ध संघ को स्थापित हुए हजार साल से भी ऊपर हो चुके थे। उनके मठों में अतोल सम्पदा जमा हो गई थी। और मगध के बिहारों में हजारों भिक्षु निश्चिन्त होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। वे केवल अब नाम के भिक्षु थे। भिक्षा माँगने, भिक्षा पात्र लेकर उन्हें अब लोगों के घर जाना नहीं पड़ता था। इधर आश्रमों और मठों में रहने वाले सन्यासियों में भी स्फूर्ति उदय हुई थी। इससे भारत में उस समय बौद्धों के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती थीं। परन्तु आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक पाँच सौ वर्षों में वज्रयान ने एक प्रकार से सारी ही भारतीय जनता को कामी, व्यसनी, शराबी और अन्ध-विश्वासी बना दिया था। राजा लोग तो अब भी किसी सिद्धाचार्य और उसके तांत्रिक शिष्यों की पलटनें साथ रखते थे, जिन पर भारी खर्च किया जाता था।

—:*:—

इस्लाम की तलवार

ई० स० ११६२ में तराइन की रणस्थली में चौहान कुल-कमल दिवाकर पृथ्वीराज का सौभाग्य सूर्य अस्त हुआ। इसके दो वर्ष बाद चन्दोवर की भूमि में कन्नौज के जयचन्द्र को भी मुस्लिम तलवार का पानी पी खेत रहना पड़ा। इसके बाद हिन्दू संस्कृति के एकमात्र गढ़ बनारस पर मुस्लिम तलवार जा धमकी।

इसके तीन बरस बाद ही मुहम्मद गोरी का एक गुलाम सेना-नायक मोहम्मद-बिन-बाखूपार केवल ५००० सवार लेकर बिहार में जा धमका। जहाँ इस समय बौद्ध बिहारों और विद्या केन्द्रों की भरमार थी, वहाँ तुर्कों ने अपने चिरशत्रुओं को पीत कफनी पहने और सिर मुड़ाए 'बुत-परस्तों' को देखा, जिनका उन्हें कटु अनुभव था। जब तुर्कों ने मध्य एशिया पर आक्रमण किए थे—तब वहाँ के भिक्षुओं ने उनसे कठिन लोहा लिया था। वे अपने इन चिरशत्रुओं पर टूट पड़े, जिनके धर्म की जड़ अनाचार से खोखली हो चली थी। उसने गाजर मूली की भाँति सबको काट डाला। एक भी घुटे सिर वाले को जीवित न छोड़ा। पालवंशी दुर्बल राजा अनायास ही परास्त हो गए। नालन्द, विक्रमशिला और उदन्तपुरी के बिहारों को लूट कर और जलाकर उन्होंने खाकस्याह कर दिया। वहाँ के दुर्लभ पुस्तकालय भी उसने जलाकर भस्म की ढेर कर दिए। और वहाँ से असंख्य धन रत्न लेकर वह आगे बढ़ा। बङ्गाल की राजधानी नदिया में उसने केवल १२ सवारों के साथ प्रवेश किया।

लोगों ने उन्हें घोड़ों का सौदागर समझा। पर जब उन्होंने राजद्वार पर जाकर मारकाट मचाई तो भगदड़ मच गई। बङ्गाल का राजा परम-माहेश्वर लक्ष्मणसेन उस समय भोजन कर रहा था। वह शोर गुल-गपाड़ा सुनकर बदहवास हो गया। उससे कुछ भी करते न बन पड़ा। और महल के पिछले द्वार से निकल भागा।

केवल १२ मुस्लिम तलवारों ने बङ्गाल को विजय कर लिया।

\+ \+ \+ \+

शाक्य श्रीभद्र विक्रमशिला विश्वविद्यालय के ध्वस्त होने के बाद भागकर पूर्वी बंगाल के 'जगत्तला' बिहार में पहुँचे। जब वहाँ भी तुर्कों की तलवार गई तो वे अपने शिष्यों के साथ भागकर नेपाल चले गए। उनके आने की खबर सुनकर तिब्बत के सामन्त कीर्तिध्वज ने उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया। वहाँ वे बहुत वर्षों तक रहे। शाक्य श्रीभद्र की भाँति अनेक बौद्ध भिक्षुओं तथा सिद्धों ने जाकर बाहर के देशों में शरण ली। इस प्रकार भारत से बौद्धधर्म का लोप हो गया।

—:*:—

धनञ्जय श्रेष्ठि का परिवार

श्रेष्ठि धनञ्जय का रङ्गमहल आज फिर सज रहा था। कमरे के झरोखों से रंगीन प्रकाश छन-छनकर आ रहा था। भाँति-भाँति के फूलों के गुच्छे ताखों पर लटक रहे थे। मंजु उद्यान में लगी एक स्फटिक पीठ पर बैठी थी—सम्मुख पालने में बालक सुख से पड़ा अँगूठा चूस रहा था। दिवोदास पास खड़ा प्यासी चितवनों से बालक को देख रहा था।

मंजु ने कहा—"इस तरह क्या देख रहे हो प्रियतम ?"

"देख रहा हूँ कि इन नन्हीं-नन्हीं आँखों में तुम हो या मैं ?"

"और इन लाल-लाल ओठों में ?"

"तुम।"

"नहीं तुम।"

"नहीं प्रियतम।"

"नहीं प्राण सखी।"

"अच्छा हम तुम दोनों।"

पति-पत्नि खिलखिलाकर हँस पड़े। दिवोदास ने मंजु को अङ्क में भरकर झकझोर डाला।

—:*:—